मालकोश

आचार्य श्री रामलाल जी म.सा.

प्रकाशक

साधुमार्गी पब्लिकेशन

(अंतर्गत – श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ)

मालकोश

चिंतक : आचार्य श्री रामलाल जी म.सा.

ग्रंथमाला-ग्रंथांक : राम-दर्शन-3

संस्करण : प्रथम, मई, 2024
4000 प्रतियाँ

मूल्य : ₹ 125/-

प्रकाशक : **साधुमार्गी पब्लिकेशन**
अंतर्गत - श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ
समता भवन, आचार्य श्री नानेश मार्ग
श्री जैन पी. जी. कॉलेज के सामने
नोखा रोड, गंगाशहर, बीकानेर-334001 (राज.)
☎ 0151-2270261
E-mail : sahitya@sadhumargi.com

आई.एस.बी.एन. : 978-93-91137-41-0

मुद्रक : साक्षी प्रिंटर्स, जयपुर, मो. 9829799888

विराग की ओर ले जाएगा 'मालकोश'

शास्त्रीय संगीत से जुड़े लोग 'मालकोश' शब्द से अवश्य परिचित होंगे। जो इस शब्द से अपरिचित हैं उनकी जानकारी के लिए बताना है कि मालकोश एक राग है, जो सामान्यतया रात के दूसरे पहर में गाया जाता है। शांत व गंभीर प्रकृति के इस राग से मधुरता टपकती है।

यह हुई एक बात। उससे आगे की बात है कि साधुमार्गी पब्लिकेशन भी एक 'मालकोश' लेकर आया है। 'मालकोश' शब्द से परिचित और अपरिचित दोनों तरह के लोगों को यह जानकारी देनी है कि यह 'मालकोश' संगीत का कोई राग नहीं है। यह 'मालकोश' आचार्य प्रवर श्री रामलाल जी म. सा. के चिंतनों का संग्रह है, जो राग से विराग की ओर ले जाने वाला है। हालाँकि इसमें भी उस राग जैसी मधुरता है। जिस प्रकार राग 'मालकोश' जोश का अहसास कराता है उसी प्रकार यह 'मालकोश' भी ऊर्जा का संचार करता है। यह मालकोश किसी बाहरी शत्रु पर विजय पाने के लिए ऊर्जा का संचार नहीं करता। यह ऊर्जा का संचार करता है अपने भीतर बैठे शत्रुओं पर विजय पाने के लिए। भीतर बैठे शत्रु यानी काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि। इस ऊर्जा का सही प्रयोग करने वाला न सिर्फ भीतरी शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर सकता है बल्कि आत्मा से परमात्मा बन सकता है।

'मालकोश' 'राम-दर्शन' ग्रंथमाला (सीरीज) की तीसरी पुस्तक है। इस सीरीज की पूर्व प्रकाशित पुस्तकों का अध्ययन कर चुके पाठक तो सीरीज से अवगत हैं, नए पाठकों की जानकारी के लिए बताना है कि 'राम-दर्शन' सीरीज, महान साधक आचार्य प्रवर श्री रामलाल जी म. सा. के चिंतनों का

संग्रह है। इस सीरीज में रेखाचित्रों और प्रतीक चित्रों का प्रयोग करके इसे बोधगम्य बनाया गया है। यह सीरीज रेखाचित्रों के माध्यम से भी विषय की गहराई में जाने और चिंतन के शब्दों को स्मृतिकोश में सहेजने का सुंदर अवसर है। चित्रों के विषय में यह ध्यातव्य है कि आचार्य प्रवर का प्रत्येक चिंतन हृदय की गहराइयों से उद्भूत है। प्रत्येक चिंतन न सिर्फ गंभीर अर्थ से संपन्न है, अपितु विभिन्न उत्तम अर्थों को प्रकट करता है। उन्हीं विभिन्न अर्थों में से किसी एक अर्थ को चित्रात्मक शैली में प्रस्तुत करने का प्रयत्न इस सीरीज में किया गया है।

अनेक अर्थों को समेटे 'राम-दर्शन' सीरीज में 'राम' का 'दर्शन' (फिलॉसॉफी) है तो 'राम' के जीवन-प्रतिबिंब का साक्षात् दर्शन (देखना) भी है। यही नहीं, वाचक वर्ग इन चिंतनों का पठन करने के साथ-साथ चित्रात्मक प्रस्तुति के माध्यम से चिंतनों का 'दर्शन' भी कर सकता है।

'मालकोश' के रूप में 'राम-दर्शन' सीरीज की तीसरी पुस्तक पाठकों के हाथों में सौंपते हुए हमें सुखानुभूति हो रही है। सुखानुभूति इस बात की कि एक महान साधक के चिंतनों को जनमानस तक पहुँचाने का अवसर हमें प्राप्त हो रहा है। और सुखानुभूति इस बात की भी कि इससे पूर्व प्रकाशित पुस्तकों के माध्यम से लोगों का जीवन परिवर्तित होने की सूचनाएँ हमें प्राप्त हो रही हैं। हमें आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि इस पुस्तक का अध्ययन करने से आपका जीवन भी परिवर्तित होकर सही लक्ष्य प्राप्ति की दिशा में गतिशील होगा।

संयोजक

साधुमार्गी पब्लिकेशन

अंतर्गत श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ

संघ के प्रति अहोभाव

हे पितृ तुल्य संघ! हे आश्रयदाता संघ!

संसार के प्रत्येक जीव की रक्षा के लिए सतत प्रयत्नरत संघ! तुम्हारी शीतल छाँव तले हम अपने परिवार के साथ तप-त्याग से युक्त आध्यात्मिक, सुखद जीवन जी रहे हैं। तुम्हारे ही आश्रय में रहकर हमने अपने नन्हें चरणों को आध्यात्मिकता की दिशा में बढ़ाया है। तुमने ही हमें आत्मा के अन्वेषण हेतु प्रेरित किया। तुम्हारी ही प्रेरणा से प्रेरित होकर हमने अपने जीवन को सन्मार्ग की ओर बढ़ाया है। इस हेतु हम संघ का अभिवादन करते हैं।

संघ ने हम अकिंचन को पुस्तक **'मालकोश'** के माध्यम से सेवा का अनुपम अवसर प्रदान किया। इस हेतु हम अपने आपको सौभाग्यशाली समझते हैं। अंतर्भावना से संघ का आभार व्यक्त करते हुए यह विश्वास करते हैं कि भविष्य में भी परम उपकारी श्रीसंघ शासन हमें सेवा का अवसर प्रदान करता रहेगा।

- अर्थ सहयोगी -

कुशलराज गौतमचंद कोठारी

ब्यावर-चेन्नई

।। सेवा है यज्ञकुण्ड, समिधा सम हम जलें।।

विषयानुक्रमणिका

1.	श्रुत ज्ञान	10
2.	समय सीमित है	12
3.	नियंता की अपेक्षा	14
4.	स्नेह सरिता का प्रवाह	18
5.	आचार्य का कर्तव्य	20
6.	स्विच ऑन ही न हो	22
7.	अहिंसा का सकारात्मक रूप	24
8.	संघ संचालन की रूपरेखा	26
9.	वार्धक्य का कारण	30
10.	उछल कूद छोड़ें	32
11.	आकाश में उड़ने का तरीका	34
12.	बड़ा रहना चाहे तो	36
13.	वात्सल्य सापेक्ष है	38
14.	दिव्य नेत्र हों	40
15.	दोष दूर हो जाएगा	42
16.	प्रवाहपात	44
17.	गंगा को आगे बढ़ावें	46

18. साधना का उल्लास 48
19. पढ़ें ही नहीं, पालें भी 50
20. प्रकृति का रहस्यमय प्रयोग 52
21. रक्षात्मक भाव के प्रतीक 54
22. मन वचन काय कुंजी 56
23. महत्त्वाकांक्षा 58
24. स्मरणीय से तादात्म्य 60
25. कर्तव्य के प्रति निष्ठा 62
26. संघीय मर्यादाओं का उल्लंघन हितावह नहीं 64
27. तटस्थ व सहज चिंतन से हल 66
28. शासन हित सर्वोपरि 68
29. स्वाध्याय : अध्यात्म की आत्मा 70
30. निपुणता से कार्य संपादन का अवसर दें 72
31. निराकुलता साधना का मर्म 74
32. अहंकार में अन्वेषण 76
33. अर्ह का अर्थ गाम्भीर्य 78
34. धर्म का फल : भविष्य में या अभी ? 80
35. अनुभूति 82
36. आकांक्षा रहित साधना तेजस्वी 84

37. आगम अध्ययन संविधा 86
38. मूल मनोवृत्ति पर विजय 88
39. आत्मिक आनंद का सूत्र : पाँच समितियाँ 90
40. अनुभूति रहित अभिनय 92
41. शब्द चयन का कौशल 94
42. ऊद्‌र्ध्वारोहण 96
43. उपदेश आचरण से 98
44. जैसी सामग्री, वैसा निर्माण 100
45. सारल्य में सद्‌गुणों का प्रस्फुटन 102
46. कथ्य के त्रिरत्न 104
47. स्मृति 106
48. दान या दाँव 108
49. प्रवाहपाती अवस्था 110
50. स्व में स्व का प्रवेश 112
51. नमन की भावधारा कैसी ? 114
52. प्रतिज्ञा कवच 116
53. हवाला भीतरी भी 118
54. अभयदान स्व-सापेक्ष 120
55. अलविदा 122

56. छोटी सी त्रुटि 124
57. संवर : आत्म सम्पदा का ताला 126
58. प्रमाद थोड़ा भी नहीं 128
59. नरक-स्वर्ग कहाँ? 130
60. दर्शन सप्तक में चारित्रमोह 132
61. इहलोक भय-परलोक भय 134
62. दान का स्वरूप 136
63. प्रतिज्ञा रूपी सड़क 138
64. विवेक-प्रज्ञा 140
65. धृति की महत्ता 142

1

श्रुत ज्ञान

'श्रुत' ज्ञान की एक संज्ञा है। उसे श्रुत क्यों कहा गया? श्रुत का अर्थ होता है सुना हुआ। प्राचीनकाल में गुरु अपने मुख से शिष्य को ज्ञान-श्रवण करवाया करते थे। गुरु मुख से कथित ज्ञान सुनकर शिष्य धारण करता था। इसलिए ज्ञान की 'श्रुत' संज्ञा पूर्णतया उचित है किंतु आज के युग में जब शिष्य पढ़कर ज्ञान प्राप्त करता है तो उसे श्रुत कैसे कहा जाए? क्या वह ज्ञान श्रुत है? यद्यपि वह ज्ञान चाक्षुष् है पर परम्परा से श्रुत होने से उसे श्रुत की संज्ञा से ही अभिहित किया जाता है किंतु गुरु मुख से श्रुत ज्ञान का वैशिष्ट्य अपने आप में महत्त्वपूर्ण है।

31 जुलाई, 1993

1

श्रुत ज्ञान

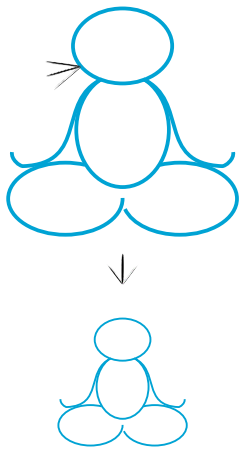

गुरु मुख ज्ञान

श्रुत ज्ञान
(विशिष्ट ज्ञान)

2

समय सीमित है

स्थविर प्रमुखों का आगमन हो रहा है। राजनैतिक धरातल पर जैसे अटकलबाजियाँ लगती हैं, वैसे ही लोग अपनी-अपनी अटकलें लगा रहे हैं। अलग-अलग व्यक्ति भिन्न-भिन्न रूप से अपनी अभिव्यक्ति दे रहे हैं। पानी में कंकर पड़ने की तरह क्षणिक तरंगें उठती हैं, किंतु भीतर गहराई में कहीं पर भी हलचल नहीं है। कहीं विरोध के भाव नहीं हैं। बल्कि आत्मविश्वास के भाव हैं। स्वयं के हृदय को खोलकर रख देना चाहता हूँ। मन चाहता है कि जो कुछ हो रहा है होने दे। तू अपने हाल में मस्त रह। तू किसी भी परिस्थिति में गम क्यों करे। तू तो पहले भी वही था, आज भी वही है। यदि पद की विशेषता है तो उसमें आत्म विकास का प्रसंग होना चाहिए। क्यों छोटी-छोटी बातों में उलझना? समय सीमित है। उसमें जो करना है सो कर लो। चाहे तो सर्जन, चाहे तो विध्वंस। सर्जन से शक्ति बढ़ती है, विध्वंस से ह्रास होता है।

यद्यपि कुछ एक बातें मन को व्यथित करती हैं। सोचता हूँ कि अनावश्यक बवंडर क्यों उठ जाते हैं! यह भी सोचता हूँ कि मैं कुछ भी निवेदन करूँ, उसका परिणमन सही क्यों नहीं होता है! उसका समाधान स्वत: प्राप्त होता है। जहाँ तक संभव है, जो मैं सोचता हूँ, वही कारण हो सकता है।

11 मार्च, 1994 (उदयरामसर)

समय सीमित है

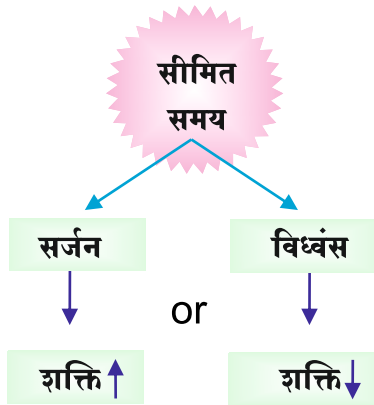

3

नियंता की अपेक्षा

प्रत्येक आत्मा के लिए अभियंता/नियंता की आवश्यकता होती है। नियामक/नियंता के बिना उसकी दिशा बदल जाती है तथा वह मुक्त नहीं होता, बल्कि विक्षिप्त हो जाता है। दार्शनिक पृष्ठभूमि पर कई दर्शन ईश्वर को नियंता के रूप में स्वीकार करते हैं। उसे यदि सही रूप में परिभाषित किया जाए तो कहीं उलझन की बात ही नहीं रहती। जब तक तुम्हारा स्वयं का नियंता नहीं जगा है, तब तक दूसरे नियंता/अनुशास्ता की अपेक्षा रहती है, ताकि वह सारणा-वारणा करता रहे। बहू नई-नई ससुराल आई। सास कहती है कि 'यह करना है, यह नहीं करना है। अमुक स्थान पर नहीं जाना है।' सास का अनुशासन मानती हुई बहू वैसा ही आचरण करती है। सास की मृत्यु हो गई। अब बहू के लिए दो मार्ग हो सकते हैं। पहला तो यह कि इतने दिन सासजी रोकने वाली थी, अब कौन है, अब जहाँ चाहूँ वहाँ विचरूँ। कौन मना करने वाला है। भूखे भेड़िये की भाँति उसका स्वच्छन्द आचरण होने लगता है। यह विक्षिप्त दशा है। किंतु जिसने सास के अनुशासन को समझा, वह सोचेगी कि 'अब सासजी नहीं रहीं। इतने समय तक वे अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करती थीं, अब उस दायित्व का निर्वहन मुझे स्वयं करना है।'

वह आत्मानुशासन प्रारंभ करती है, स्वयं की नियंता स्वयं बन जाती है। 'पर' का नियंत्रण 'स्व' के नियंत्रण को जागृत करने के लिए

3 नियंता की अपेक्षा

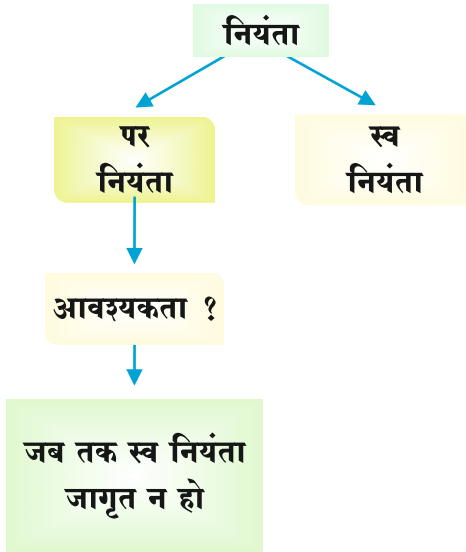

है, न कि 'पर' के नियंत्रण में ही अभ्यस्त होना है। जब तक व्यक्ति स्वयं का नियंता नहीं हो जाता, तब तक उसे किसी दूसरे की अपेक्षा रहेगी। जब तक कार चलाना स्वयं नहीं सीख लेता, तब तक ड्राइवर की अपेक्षा होगी ही। जब स्वयं कार चला सकता है तो ड्राइवर हो या न हो, कोई अंतर नहीं पड़ता। पाँच व्यवहारों में आगम व्यवहारी अपना नियंता स्वयं होता है। अन्य ड्राइवर होता है तो उसके हाथों में भी कार सौंप देता है। आवश्यकता पड़ती है तो स्वयं भी ड्राइविंग करने लग जाता है, किंतु अन्य व्यवहार आगम व्यवहारी बनने के लिए उपादेय हैं। भीतर की नियंत्रण शक्ति को जागृत करने के लिए अन्य व्यवहारों में व्यक्ति को प्रवृत्त होना चाहिए।

गुरु का शिष्य पर अनुशासन तभी तक रहता है, जब तक उसके भीतर का नियंता-गुरु जागृत न हो जाय। जब स्वयं हेय, ज्ञेय व उपादेय उत्सर्ग अपवाद का पूर्ण ज्ञाता हो जाय तो उस अवस्था में वह स्वयं का नियंता हो जाता है। उस समय गुरु की अनुपस्थिति भी रही तो वह अपनी कार को गति दे सकता है, चला सकता है। बच्चे को अंगुली पकड़कर इसलिए नहीं चलाया जाता है कि वह अंगुली पकड़कर चलने का अभ्यासी बन जाय, अपितु अंगुली पकड़कर चलाने का तात्पर्य है कि इसके पैरों में वह शक्ति आ जाय कि वह स्वयं अपने पैरों पर नियंत्रण कर सके। तब उसका भीतर ही उसका सहारा बन जाएगा।

इसी प्रकार मरीज को सहारा देकर खड़ा किया जाता है, फिर सहारा देकर धीरे-धीरे चलाया जाता है। वह चलाना भी इसलिए है कि

कालांतर में वह स्वयं अपने सहारे से चलने लगे। अत: स्वयं के नियंता/अभियंता को जागृत करने के लिए अन्य नियंता की अपेक्षा है। जब तक स्वयं का अनुशासन जागृत न हो जाय, तब तक शिष्य को गुरु का, पुत्र को पिता का, बहू को सास का अनुशासन स्वीकार करना चाहिए, ताकि उसकी दिशा मुक्ति की दिशा हो, न कि विक्षिप्त होने की। इसी रूप में व्यक्ति ने ईश्वर को अपने अभियंता के रूप में, आदर्श के रूप में स्वीकार कर लिया है। वह तभी तक आवश्यक है, जब तक स्वयं की नियंत्रण शक्ति जागृत नहीं कर ली हो। भगवान महावीर उस शक्ति को जागृत करके मुक्त हुए। दार्शनिक नीत्शे भी उस विचार तक पहुँचा, किंतु स्वयं पर नियंत्रण नहीं कर पाया और विक्षिप्त हो गया।

10 मई, 1994 (देशनोक)

4

स्नेह सरिता का प्रवाह

संघीय व्यवस्था में पारस्परिक स्नेह, सौहार्द का होना अत्यंत आवश्यक है। किसी भी प्रकार की पकड़ या ग्रंथि जहाँ बन जाती है, वहाँ स्नेह की सरिता अवरुद्ध हो जाती है। समष्टिगत जीवन में अन्य सदस्यों की स्थिति से भी कुछ तनाव बन जाना स्वाभाविक है। उस तनाव का निराकरण यह हो सकता है कि संघाड़े के प्रमुख संत-सती अपने कर्तव्य का निर्वाह करें। उनका कर्तव्य है कि जैसे ही अनुशास्ता के पास पहुँचें, अपने साथ वाले संत-सती व उपधि आदि उन्हें समर्पित कर दें और निवेदन करें कि इनको आपकी सेवा में या अन्य जिनके साथ नियोजित करना चाहें, करें। इतनी उदारता उनकी तरफ से हो तो अनुशास्ता भी उनकी आवश्यकता का ध्यान रखकर उनसे उन्हीं संतों के लिए अथवा अन्य संतों के लिए आमंत्रण करें कि आप इनको साथ ले जाओ। इस प्रकार की व्यवस्था से परस्पर विश्वास का वातावरण बनता है तथा स्नेह-सौहार्द की पावन सरिता प्रवाहित होती है।

11 मई, 1994 (देशनोक)

4 स्नेह सरिता का प्रवाह

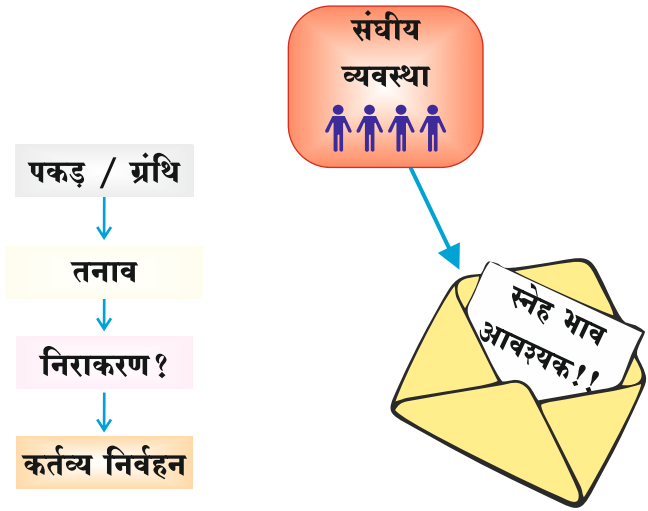

5

आचार्य का कर्तव्य

आचार्य का कर्तव्य होता है कि शिष्यों को केवल दीक्षा ही देकर संतोष नहीं कर ले, बल्कि उनके जीवन को निष्पत्ति तक पहुँचावे, इसलिए यह आवश्यक है कि उनका प्राथमिक शिक्षण अनुशास्ता के सान्निध्य में उनकी देख-रेख में संपन्न हो। परिपक्व अवस्था में उन्हें जहाँ कहीं भी रखने का प्रसंग बन जाए तो उसमें प्रकृति आदि जन्य विषमताएँ विशेष रूप से सामने नहीं आएँ।

दीक्षा भी तभी देना चाहिए, जब दीक्षार्थी की प्रकृति आदि की विषमता परिमार्जित हो। दीक्षार्थी की बुद्धि बालबुद्धि न हो, बल्कि बुद्धि में परिपक्वता हो। अध्ययन कार्य एक स्थान पर होना चाहिए, ताकि सभी एक-दूसरे से घुल-मिल सकें।

11 मई, 1994 (देशनोक)

5

आचार्य का कर्तव्य

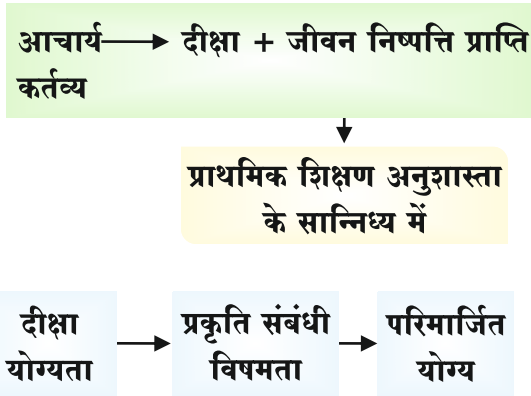

6

स्विच ऑन ही न हो

माया प्रक्षेपास्त्र के समान दूर से घात करती है। उसका निवास दिल में माना गया है, किंतु घात वह दिमाग पर करती है। उसका प्रभाव बुद्धि पर होता है।

माया से बुद्धि विकृत होती है। उसमें वक्रता आ जाती है। वक्रता के क्षणों में बुद्धि की यथार्थग्राहिणी शक्ति कुंठित हो जाती है, जिससे वह वितंडा की दिशा में प्रवृत्त होती है। वह अवस्था आत्मा के मूल उत्स को भुलाने वाली होती है। इसलिए माया रूपी प्रक्षेपास्त्र का स्विच ऑन ही न हो, इसका ध्यान रखना चाहिए।

15 मई, 1994 (देशनोक)

स्विच ऑन ही न हो

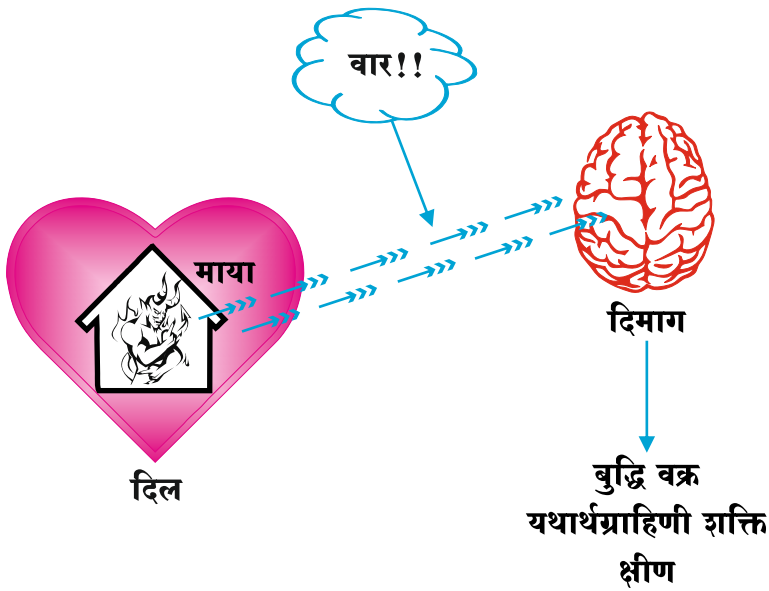

7

अहिंसा का सकारात्मक रूप

अहिंसा का अर्थ केवल निषेधात्मक ही नहीं है, बल्कि उसका स्वरूप बड़ा व्यापक है। अहिंसा केवल त्याग (छोड़ना) ही नहीं है, अपितु प्राप्त करना भी है। अहिंसा में समस्त जीवों के प्रति मैत्री भाव रहा हुआ है। जब तक सभी प्राणियों पर मैत्री भाव जागृत नहीं होता, जीवन में अहिंसा फलित नहीं हो सकती।

धर्म का स्वरूप अहिंसा बताते हुए संयम और तप को भी साथ में रखा गया है। इससे स्पष्ट होता है कि अहिंसा संयमपूर्वक होनी चाहिए। संयम भी इच्छा निरोध रूप तप के बिना संभव नहीं। जब इच्छाओं का निरोध हो गया तो सबके प्रति स्वाभाविक मैत्री भाव बनेगा। इच्छाओं की पूर्ति में जो बाधक बन जाता है, उससे द्वेष पैदा होता है, किंतु जब इच्छा ही नहीं रहेगी, कामना ही नही रहेगी, तो उसके जीवन में सबके प्रति समानता का भाव होगा, जो अहिंसा का सकारात्मक रूप है।

20 मई, 1994 (देशनोक)

7 अहिंसा का सकारात्मक रूप

अहिंसा का सकारात्मक रूप

8 संघ संचालन की रुपरेखा

संघ व्यवस्था के लिए विकेंद्रीकरण किया जा सकता है, किंतु वह विकेंद्रीकरण पूर्णतया स्वतंत्र नहीं हो सकता। अमुक सीमा तक कार्य अमुक अधिकारी कर सकता है। अंतिम निर्णय, आदेश आचार्य के अधीन रहेगा। इस प्रकार की व्यवस्था से संघीय संचालन सुचारू रूप से हो सकता है।

उदाहरण के तौर पर एक अधिकारी संत-सती वर्ग के विचरण की रूप रेखा, वृद्ध संत-सती वर्ग व अध्ययनरत साधु-साध्वियों की सुविधापूर्वक तय करे। विचरण की रूपरेखा आदि के लिए उन साधु-साध्वियों को मानसिक रूप से तैयार करे। उसकी सूचना वह आचार्यश्री को करता रहे। संबंधित साधु-साध्वियों की मानसिक तैयारी हो जाने पर उन्हें आदेश-निर्देश का कार्य आचार्यश्री करें। इस प्रकार से अन्य व्यवस्थाएं भी नियोजित की जा सकती हैं। वर्तमान हालातों में यह आवश्यक है कि दीक्षाएँ आचार्यश्री के पास हो व नवदीक्षित एक निश्चित समय तक आचार्यश्री की सेवा में ही रहे। इससे नैष्ठिक पारस्परिक सद्भाव सम्भव है।

संघ के उन्नयन हेतु एक योजना आयोग की अपेक्षा है। उक्त आयोग का प्रमुख पद आचार्यश्री के अधीन रहे, यानी वे उसके प्रमुख/अध्यक्ष रहें। एक प्रबुद्ध संत को उपप्रमुख बनाया जाये। अन्य तीन या चार सदस्य हों। यह आयोग त्रिवर्षीय योजना चरणवार आयोजित करे। योजना केवल आदर्श रूप न हो, व्यवहार्य भी हो।

(शेष पृष्ठ संख्या 28 पर)

8 संघ संचालन की रुपरेखा

अंतिम निर्णय

आचार्यश्री

विचरण वर्ग

योजना आयोग

साहित्य वर्ग

शिक्षा समिति

8

संघ संचालन की रुपरेखा

(पृष्ठ संख्या 26 का शेष भाग)

इसकी पूरी योजना अलग से अंकित कर रहा हूँ।

साहित्य की अपेक्षा को नकारा नहीं जा सकता, पर वह व्यवस्थित हो। इसके लिए साहित्य अधिकारी के निर्देशन में एक साहित्यिक प्रणयन समिति का गठन होना चाहिए।

शिक्षा के लिए भी इसी प्रकार से एक समिति का गठन हो, जिसमें एक अधिकारी हो। सभी समितियों का कार्यकाल दो वर्ष या तीन वर्ष का रखा जा सकता है। कार्य समीक्षा के पश्चात् परिवर्तन अथवा समय वृद्धि का भी चिंतन किया जा सकता है।

1 सितम्बर, 1994 (नोखा)

8 संघ संचालन की रुपरेखा

विचरण वर्ग

- 1 अधिकारी

↓

विचरण रूपरेखा की तैयारी

योजना आयोग

- 1 प्रबुद्ध उपमुख संत
- \+
- 3-4 सदस्य
- 3 वर्षीय योजना

योजना व्यवहार रूप

साहित्य वर्ग

शिक्षा समिति

- कार्यकाल 2-3 वर्ष

9

वार्धक्य का कारण

आम व्यक्ति वृद्ध हो जाता है, कोई-कोई तो असमय ही वृद्ध हो जाता है। साधारणतया यह माना जाता है कि यह तो सामान्य बात है, प्राकृतिक है, शरीर का धर्म है, वय के साथ-साथ बुढ़ापा आता है, किंतु इसके साथ ही यह प्रश्न उभरता है कि तीर्थंकर महापुरुष व अन्य-अन्य कर्मवीर महान आत्माओं में वार्धक्य क्यों नहीं आता? तीर्थंकर महापुरुषों के लिए ऐसा कहा जा सकता है कि उनका अतिशय है, किंतु यह समाधान तर्क की दृष्टि से जम नहीं पाता है। इस परिप्रेक्ष्य में चिंतन करते हैं तो इसका बहुत सुंदर समाधान यह है कि जो शरीर इच्छा व मन के भार को जितना अधिक ढोता है, वह उतना ही जल्दी वृद्ध होता है। तीर्थंकर इच्छा व मन के भार को नहीं ढोते। वे सहज रूप में जीते हैं। अत: उन्हें बुढ़ापा नहीं आता।

(नोखा)

9

वार्धक्य का कारण

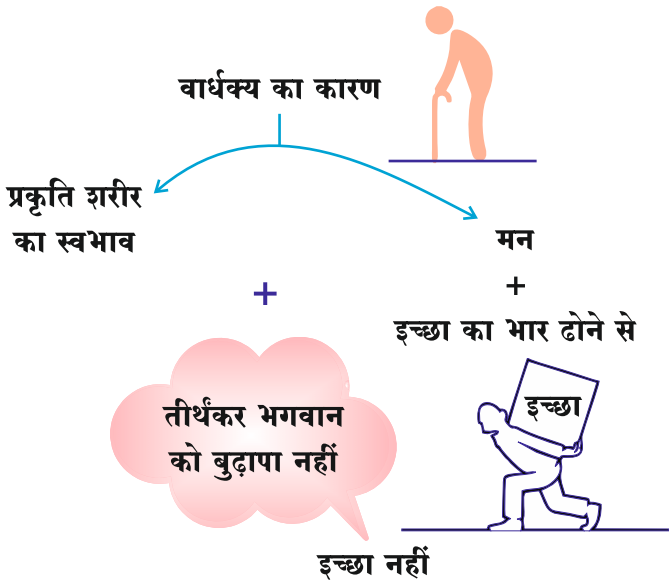
वार्धक्य का कारण
प्रकृति शरीर
का स्वभाव
+
तीर्थंकर भगवान
को बुढ़ापा नहीं
इच्छा नहीं
मन
+
इच्छा का भार ढोने से
इच्छा

10

उछल कूद छोड़ें

उछल कूद करने वाला आगे नहीं बढ़ सकता। वह उछल-उछलकर उसी स्थान पर गिरता रहता है। परिश्रम उसका भले ही हो जाए, पर विकास नहीं कर पाता। उतना ही परिश्रम यदि मार्ग तय करने में लगावे तो गंतव्य तक, मंजिल तक पहुँच सकता है। आज अधिकांशत: देखा यह जाता है कि व्यक्ति उछल कूद ज्यादा करते हैं। वह उछल कूद शरीर की न होकर चाहे मन की हो, तर्क की हो। मन की उछल कूद भी जीवन के लिए घातक है। अत: उछल कूद को छोड़कर मार्ग तय करने रूपी गति को लक्ष्य में रखें।

22 अक्टूबर, 1994 (नोखा)

10 उछल कूद छोड़ें

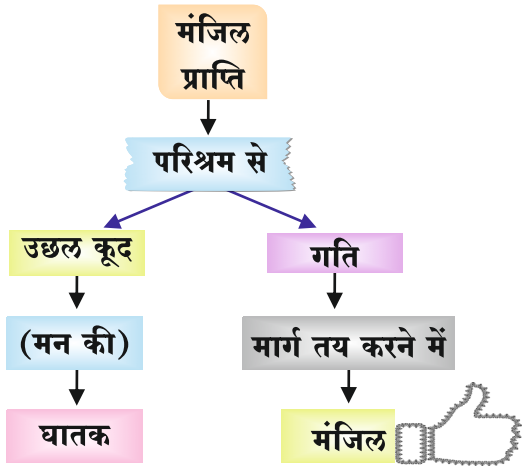

11 आकाश में उड़ने का तरीका

बहुत से व्यक्तियों को आकाश में उड़ने का शौक होता है, किंतु आकाश में उड़ने का तरीका बहुत कम व्यक्ति जानते होंगे। आकाश में उड़ने के पहले पैरों के नीचे की जमीन को मजबूत करना आवश्यक है। पैरों के नीचे की जमीन मजबूत नहीं है तो लाख कोशिश कर ली जाए, व्यक्ति आकाश में उड़ नहीं सकता। प्लेन, हेलीकॉप्टर आदि को उड़ने के लिए भी पक्की भूमि की आवश्कता होती है।

'आत्मा का ऊद्‌र्ध्वारोहण' आकाश में उड़ना है, किंतु वह नैतिक भूमि की मजबूती बिना संभव नहीं है। धार्मिक बनने के लिए पहले जीवन में नैतिकता रूपी भूमि का मजबूत होना आवश्यक है।

22 अक्टूबर, 1994 (नोखा)

11 आकाश में उड़ने का तरीका

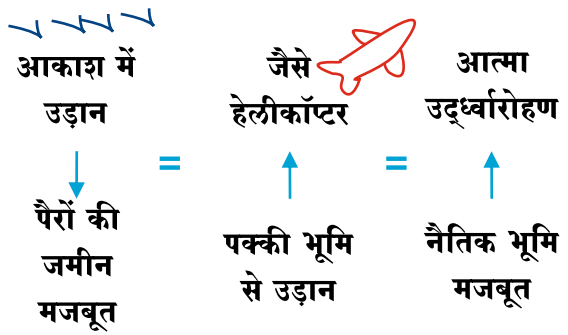

12

बड़ा रहना चाहे तो

व्यक्ति बड़ा या छोटा ओहदे या पद से नहीं होता और न ही ज्ञान से होता है। बड़ा होने का मापदंड है- आचरण। आचरण किसका, कितना संतुलित है, कितना व्यवस्थित है, कितना नैतिक है, उसी से बड़े-छोटे का निर्धारण हो सकता है, किंतु बड़ा भी छोटे की अपेक्षा से है। बड़ा यदि छोटे को गिराना चाहे तो वह 'बड़ा' नहीं रह सकता। अत: यदि कोई बड़ा रहना चाहे तो उसे चाहिए कि वह छोटों का सदा संरक्षण करे। सदा उनके सुख-दु:ख को जाने। तभी वह बड़ा रह सकता है।

21 अक्टूबर, 1994 (नोखा)

बड़ा रहना चाहे तो

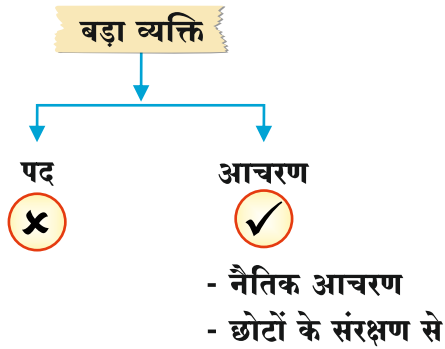

13

वात्सल्य सापेक्ष है

कभी-कभी व्यक्ति सोचता है कि मुझे अमुक से वात्सल्य भाव नहीं मिलता। मुझे आत्मीय भाव, वात्सल्य भाव मिले तो मैं बहुत कुछ कर सकता हूँ, किंतु वात्सल्य भाव सापेक्ष है। वात्सल्य को ग्रहण करने वाला भी होना चाहिए। माता का पुत्र के प्रति वात्सल्य भाव होता है। वात्सल्य भाव का ही प्रतीक है कि पुत्र के लिए माता के स्तनों में दूध आ जाता है, पर वह आता है पुत्र के होने से। पुत्र होने के पूर्व स्तनों में दूध नहीं आता। पुत्र हुए बिना स्तनों में आया हुआ दूध पी भी नहीं सकेगा। अत: वात्सल्य भाव के लिए पुत्र बनना आवश्यक है। ज्ञानीजनों ने शिष्य के लिए कहा है कि गुरु को वंदन करते हुए यथाजात हो जाए, ताकि गुरु का वात्सल्य ग्रहण कर सके।

22 अक्टूबर, 1994 (नोखा)

वात्सल्य सापेक्ष है

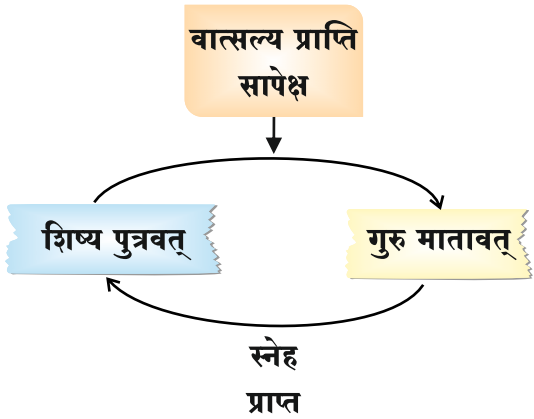

14

दिव्य नेत्र हों

हम सत्य को जानना चाहते हैं, सत्य के दर्शन करना चाहते हैं, यह उत्तम विचार है, किंतु इतने मात्र से सत्य का साक्षात्कार नहीं हो सकता। सत्य को देखने के लिए उसके अनुरूप आँख भी चाहिए। योग्य नेत्रों के अभाव में सत्य के दर्शन हो पाना कठिन है। सत्य हमारे हृदय में है, किंतु ईर्ष्या एवं माया ने भी वहाँ स्थान बना रखा है। इन दोनों के द्वारा सत्य आवृत हो चुका है। अत: सत्य का साक्षात्कार करने के लिए दिव्य नेत्र उद्घाटित हों, जो माया व ईर्ष्या को चीरकर भीतर तक जा सकें।

23 अक्टूबर, 1994 (नोखा)

14 दिव्य नेत्र हों

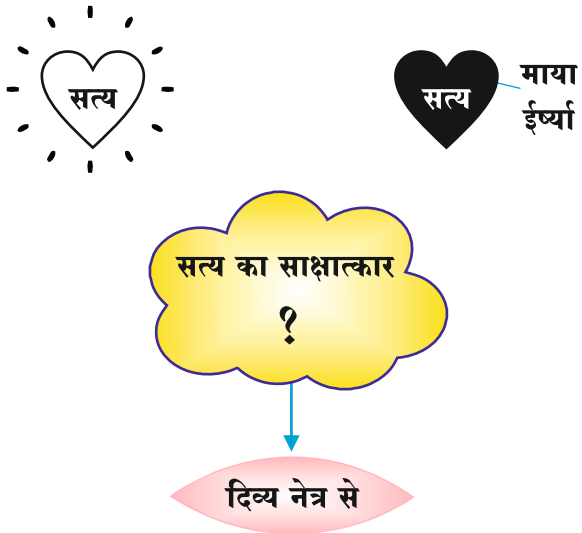

15

दोष दूर हो जाएगा

आज से पंच दिवसीय योग साधना शिविर प्रारंभ हुआ। रतलाम के डॉक्टर पुरोहित ने यौगिक क्रियाओं का प्रशिक्षण दिया। डॉक्टर साहब से योग, आसन, प्राणायाम आदि क्रियाओं के विषय में बहुत सी बातें हुईं। आसनों के विषय में मत-मतांतर व शोध विषयक जानकारी भी प्राप्त हुई।

शीर्षासन करने के पश्चात् शवासन के अलावा अन्य आसन नहीं करने चाहिए। आसन करते कुछ गड़बड़ हुई हो तो उसका विपरीत आसन तत्काल कर लेना चाहिए। इससे उस आसन का दोष दूर हो जाता है।

यदि हमारे जीवन व्यवहार में गड़बड़ी हो जाय तो विपरीत क्रिया, प्रतिक्रमण, क्षमायाचना तत्काल कर लेने से उस व्यावहारिक क्रिया का दोष दूर हो जाएगा।

24 अक्टूबर, 1994 (नोखा)

15

दोष दूर हो जाएगा

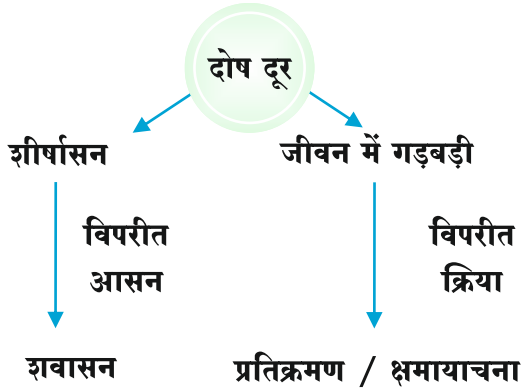

16

प्रवाहपात

बहुतायत लोग प्रवाह में बहने वाले होते हैं, भले ही वे कितने प्रबुद्ध क्यों न हों?

25 अक्टूबर, 1994 (नोखा)

प्रबुद्ध जन भी

अक्सर प्रवाहपाती

17

गंगा को आगे बढ़ावें

हिमालय से निकलने वाली गंगा के लिए कहा जाता है कि शिवजी ने अपनी जटा में धारण किया, फिर उसे पतली धार में प्रवाहित किया, ताकि जन-जन के लिए उपयोगी बन सके। प्रभु वीर रूपी हिमालय से निकलने वाली श्रुत गंगा को गणधरों ने अपने श्रुत कुंड में ग्रहण किया, फिर विभिन्न धाराओं में उसे प्रवाहित किया, ताकि प्रत्येक व्यक्ति अपनी रुचिपूर्वक इस ज्ञान गंगा से अपने को आप्लावित कर सके, अपने को परिष्कृत कर सके। इस मायने में गणधर भगवंतों का हमारे पर बहुत-बहुत उपकार है। वर्तमान वाचना आर्य सुधर्मा स्वामी की है। उन्होंने अनंत करुणा कर इस गंगा को हम तक पहुँचाने का अथक प्रयास किया। इसमें पूर्वाचार्यों का भी योगदान रहा है। हम भी इस गंगा को आगे बढ़ावें, ऐसा लक्ष्य, ऐसी तत्परता रखनी चाहिए।

3 नवम्बर, 1994 (नोखा)

गंगा को आगे बढ़ावें

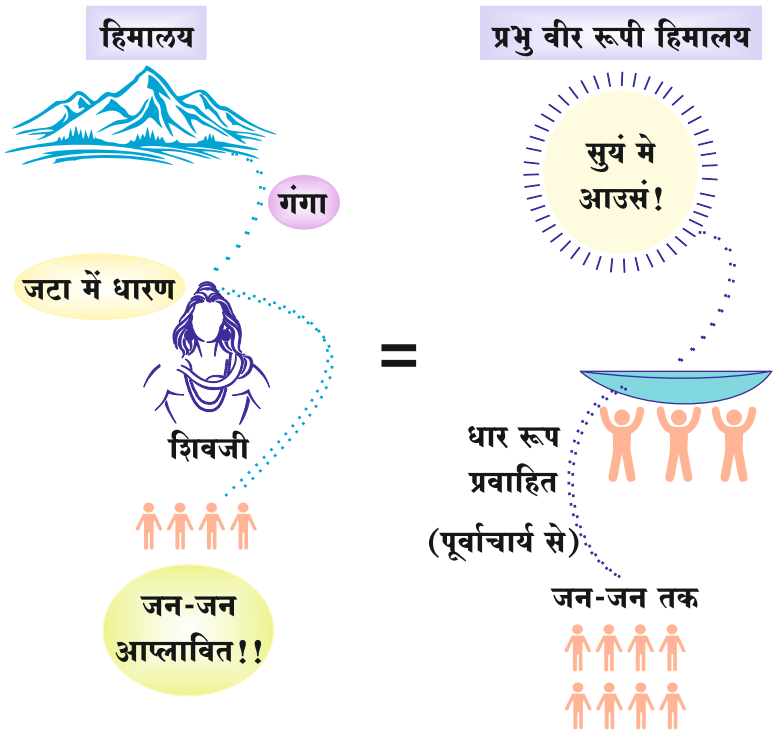
हिमालय
गंगा
जटा में धारण
शिवजी
जन-जन
आप्लावित!!
=
प्रभु वीर रूपी हिमालय
सुयं मे
आउसं!
धार रूप
प्रवाहित
(पूर्वाचार्य से)
जन-जन तक

18 साधना का उल्लास

रात्रि को साधना का समय अत्यंत उल्लासमय स्थिति में व्यतीत हुआ। 7 फुट लगभग ऊँचाई। तैरना... पानी नहीं...।

20 नवम्बर, 1994, (जोरावरपुरा, नोखामंडी)

18 साधना का उल्लास

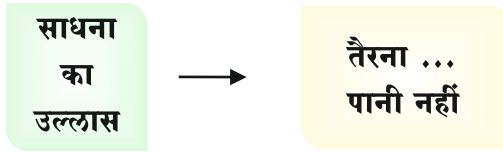

19

पढ़ें ही नहीं, पालें भी

- अब तक हमने सिद्धांत पढ़ा है, अब उसे प्रयोग में लाने की पहल होनी चाहिए।
- आत्म-विश्वास आवश्यक है, पर अहंमन्यता घातक है।
- जिनसे थोड़ा भी आपको सहकार मिला है, उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित कीजिए।
- अहंकार का जहाँ पुट है वहाँ अनात्मभाव की स्थिति है।

26 नवम्बर, 1994 (कांकरिया भवन, नोखामंडी)

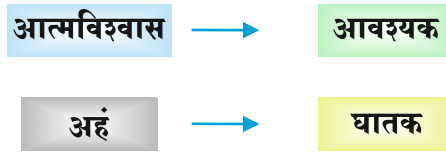
आत्मविश्वास
आवश्यक
अहं
घातक

20 प्रकृति का रहस्यमय प्रयोग

कालूजी का दीक्षा प्रसंग केवल बहाना है। मैं यह मानता हूँ कि प्रकृति एक प्रयोग चाहती थी और आचार्यदेव भी उस प्रयोग को मूर्त रूप देना चाहते थे। वह प्रयोग था कि मेरा कुछ स्वतंत्र विचरण हो, ताकि जो कुछ अपवाद हैं वे स्वत: निरस्त हो जाएं और मेरी भी आत्मविश्वास की स्थिति बन सके। संभव है आचार्यदेव का भी यही चिंतन बना हो और कालूजी की दीक्षा के बहाने मेरा विहार करवाया हो। अन्यथा नोखा या अन्यत्र क्यों नहीं! दूसरा इसके पीछे एक और गहरा रहस्य भी है, जो आचार्यदेव की सहज अवस्था से झलका है, पर वह रहस्य समय पर ही अनावृत हो सकता है। उसको स्पष्ट करने का अभी समय भी नहीं है।

2 दिसम्बर, 1994 (नागौर)

20 प्रकृति का रहस्यमय प्रयोग

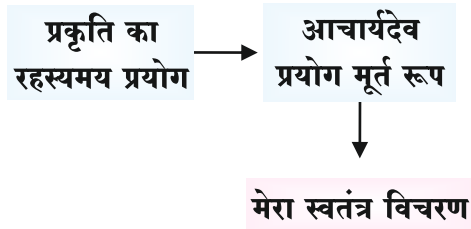

21 रक्षात्मक भाव के प्रतीक

क्षत्र शब्द रक्षा अर्थ में प्रयुक्त होता है। नक्षत्र का तात्पर्य नभ में रहकर रक्षा करने वाले देव। 28 नक्षत्रों में अभिजित् नक्षत्र का व्यवहार नहीं होता। 27 नक्षत्र व्यवहार्य हैं। प्रत्येक के चार चरण होते हैं। कुल मिलाकर 108 चरण हुए। जिनको 12 राशियों में विभक्त किया गया है। उसी के आधार पर नामकरण किए जाते हैं। इस दृष्टि से माला के मणके भी 108 हों तो यह रक्षात्मक भाव का प्रतीक है।

2 दिसम्बर, 1994 (नागौर)

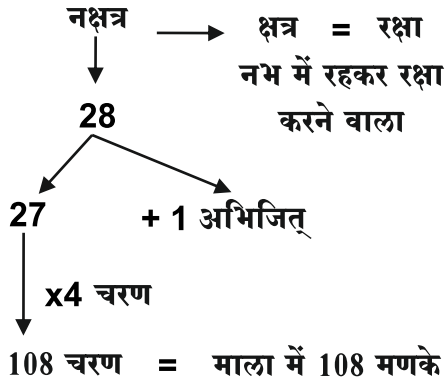
नक्षत्र
क्षत्र = रक्षा
नभ में रहकर रक्षा
करने वाला
28
27
+ 1 अभिजित्
x4 चरण
108 चरण = माला में 108 मणके
रक्षात्मक
प्रतीक

22

मन वचन काय कुंजी

मन - बच्चों की तरह सरल

वचन - युवा की तरह ओजस्वी

आचरण - वृद्ध की तरह यतना व विवेकपूर्वक

4 जनवरी 1995 (भीनासर)

मन वचन काय कुंजी

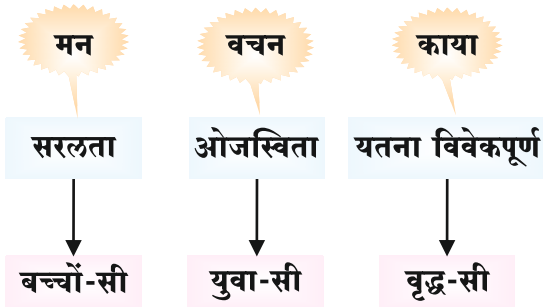

23

महत्त्वाकांक्षा

महत्त्वाकांक्षा को जीवन निर्माण के लिए आवश्यक अंग भी कहा जा सकता है, पर व्यक्ति को उसके अधीन नहीं होना चाहिए। अधीन होने का तात्पर्य है कि महत्त्वाकांक्षाओं की संपूर्ति के अभाव में हताश-निराश हो जाना। भीतर ही भीतर टूट जाना। मस्तिष्क में एक प्रकार का बोझ सा लगना। जीवन दीप बुझता हुआ सा लगना। ऐसी अवस्थाएँ जहाँ बन जाएँ वहाँ महत्त्वाकांक्षा का घेरा इतना सघन हुआ समझना चाहिए कि व्यक्ति उसमें से अपने आपको उबार पाने में अक्षम हो जाता है।

6 मई, 1995 (भीनासर)

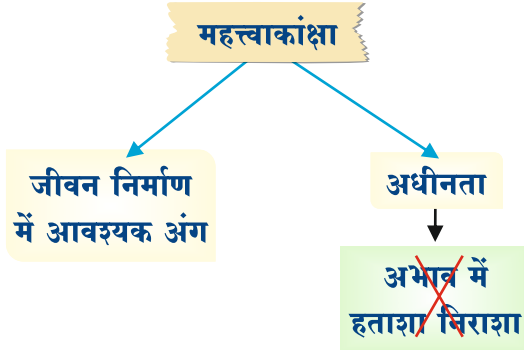
महत्त्वाकांक्षा
जीवन निर्माण में आवश्यक अंग
अधीनता
अभाव में हताशा निराशा

24 स्मरणीय से तादात्म्य

आचार्यदेव की स्मृतियों के साथ में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न करता हूँ। स्मृति पुरुष की स्मरणीय अवस्था के तादात्म्य स्वरूप की अभिव्यक्ति या उपस्थिति ही स्मृतियों के साथ सामंजस्य स्थापित करना है।

6 मई, 1995 (भीनासर)

स्मृतियों में सामंजस्य	=	तादात्मय स्वरूप की अभिव्यक्ति / उपस्थिति

25 कर्तव्य के प्रति निष्ठा

मानवीय वृत्ति दुर्मुख-सुमुख के स्वरूप वाली है। अत: व्यक्ति को बहाव या हवा में नहीं बहना चाहिए। उसे आत्म-निष्ठापूर्वक स्व-कर्तव्य कर्म को सन्मुख रख दृढ़ता से कदम बढ़ाना चाहिए। दुनिया हँसे तो परवाह नहीं, दुनिया प्रशंसा करे तो अटकना नहीं। केवल अपने कर्तव्य भाव को सन्मुख रख तदनुरूप आचार, विचार और व्यवहार का चिंतन-उपादेय हो सकता है।

6 मई, 1995 (भीनासर)

25 कर्तव्य के प्रति निष्ठा

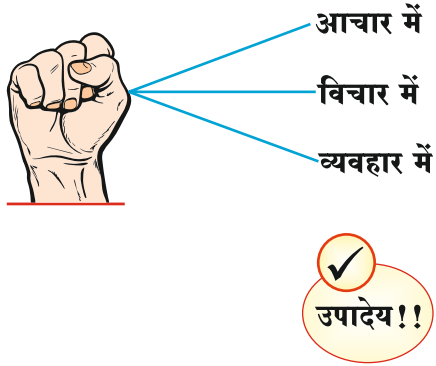

26

संघीय मर्यादाओं का उल्लंघन हितावह नहीं

तीर्थंकर देव प्रभु महावीर ने चार तीर्थ रूप संघ की स्थापना की। संघ की व्यवस्था दी। संघ व्यवस्था का उद्देश्य स्पष्ट है कि छोटे-मोटे सभी साधक अनुशास्ता के नेतृत्व में रहते हुए आत्मसाधना का मार्ग प्रशस्त कर सकें। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु संघ के लिए आचार्य, उपाध्याय आदि की भी व्यवस्था दी, ताकि सुंदर तरीके से अनुशासनबद्ध स्थिति से व्यवस्था संचालित हो व सभी साधक आत्मभाव की अनुभूति प्राप्त कर सकें।

इस संदर्भ में यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि साधक छद्मस्थ है। त्रुटि होना स्वाभाविक है। पर उसके लिए प्रभु महावीर ने आलोचना विधि का निर्देश दिया है। त्रुटि की आलोचना नहीं करके, धींगा मुश्ती अथवा स्वच्छन्दता से संघीय मर्यादाओं का उल्लंघन करना संघ के लिए कतई हितप्रद नहीं है। बल्कि वह संघीय व्यवस्था को छिन्न-भिन्न करना, उसका उच्छेद करना है। ऐसा व्यवहार महा मोहनीय कर्म का प्रसंग उपस्थित करता है।

13 मई, 1995 (भीनासर)

26

संघीय मर्यादाओं का उल्लंघन हितावह नहीं

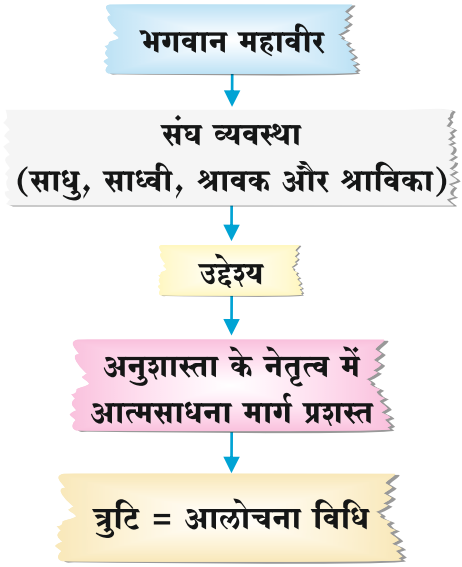

27 तटस्थ व सहज चिंतन से हल

प्रशासनिक व्यवस्थाओं में नित नए अनुभव होते रहते हैं। छोटे से परिवार में रहने वाले सदस्यों का निर्वाह करना जहाँ कठिन काम है, वहाँ वन-वन की लकड़ियों की भाँति अनेक परिवारों के सदस्य जो साधना मार्ग में अग्रसर हैं, उनके विचारों में समता, वीतरागता के भाव गहरे बनने की दृष्टि से प्रयत्न करते समय स्वयं का तटस्थ व सहज भाव में प्रविष्ट होना आवश्यक है।

परिस्थितियों के आधार पर जो अनुभव होते हैं, वे कभी-कभी उद्विग्न भी करने वाले होते हैं, क्षणिक चिंतन उभरता भी है, पर तटस्थ भाव से चिंतन करने पर परिस्थितियाँ हल भी हुई हैं व होती रही हैं।

24 मई, 1995 (करौली)

27 तटस्थ व सहज चिंतन से हल

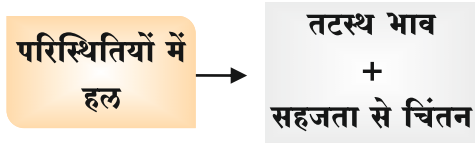

28 शासन हित सर्वोपरि

कल स्थविर प्रमुख श्री शान्ति मुनि जी म.सा. को उनके सिंघाड़े की व्यवस्था के रूप में तीन विकल्प लिखवाए। उनमें एक विकल्प श्री राजेश मुनि जी का भी था। उस विकल्प पर जो विभिन्न विचार सामने आए, उन सब पर चिंतन चलता रहा। अंतरात्मा में दृढ़ निश्चय झलक रहा था कि यदि स्थविर प्रमुख श्री को वह विकल्प जमता हो तो उस विकल्प को जमा देना ही उचित है। उस विकल्प को जमाने के साथ ही साथ व्यवस्था विषयक अन्य विकल्प भी उभरे। उनका समय पर उपयोग सम्भव है, जो शासन की दृष्टि से हितकर सिद्ध होंगे। यद्यपि राजेश मुनि की मेरे साथ आवश्यकता को मैं अनुभव करता हूँ किंतु मेरी आवश्यकता के बजाय शासन हित प्रमुख है। अत: उसी दृष्टि से यह चिंतन दृढ़ीभूत बना।

24 मई, 1995 (करौली)

स्व
आवश्यकता
या
शासन
हित

29 स्वाध्याय : अध्यात्म की आत्मा

भोजन का रस बनने व पाचन होने पर शरीर में शक्ति का संचार होता है। वैसे ही आध्यात्मिक क्षेत्र में अध्ययन हो, स्वाध्याय हो, स्वाध्याय के पश्चात् उस पर चिंतन-मनन हो तो श्रद्धामय शक्ति का संचार होता है। श्रद्धा दृढ़ बनती है। यदि स्वाध्याय नहीं, तो चिंतन-मनन की विशालता होना कठिन है। चिंतन, मननपूर्वक विषय को हृदयंगम किये बिना श्रद्धा भी गहरी/दृढ़ होना कठिन है। अत: स्वाध्याय हमारे अध्यात्म की आत्मा है।

9 जून, 1995 (पुलु)

29 स्वाध्याय : अध्यात्म की आत्मा

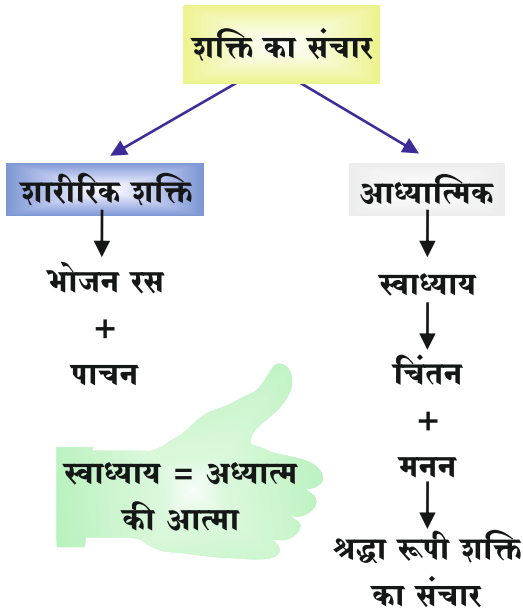

30 निपुणता से कार्य संपादन का अवसर दें

जिसको अध्यक्ष आदि के रूप में अगुआ बनाया गया है, उसे सहकार देना प्रत्येक सदस्य का कर्तव्य होता है। उसे माला पहनाई जाती है। भारतीय संस्कृति में माला पहनने व पहनाने वाले वर-वधू का पारस्परिक सहकार भाव जीवन-पर्यंत का बन जाता है। वे हमेशा एक-दूसरे के सहयोगी बने रहते हैं। दु:ख-सुख में एक-दूसरे के साथी बने रहते हैं। वैसे ही माला पहनाकर समाज ने अपने अगुआ के साथ पारस्परिक सद्भाव की प्रतिज्ञा व्यक्त की है। अत: सभी को पारस्परिक भाव से चलना चाहिए।

यदि कोई कहता है कि अध्यक्ष सबको साथ लेकर नहीं चलते, अपनी मनमानी करते हैं तो उनका साथ कैसे दें, इस पर मेरा कहना है कि जिसको भी प्रमुख पद पर चयनित किया, उसे योग्य समझकर किया या अयोग्य समझकर! यदि योग्य समझकर उसे आगेवान बनाया गया है तो उसकी योग्यता का लाभ भी उठाएँ। उसे अपनी योग्यता के अनुसार काम करने का मौका दें। क्योंकि कभी-कभी अग्रगण्य व्यक्ति को तत्काल निर्णय भी लेना पड़ता है, जो उसकी सूझबूझ की क्षमता पर भी आधारित हो सकता है।

9 जून, 1995 (पुलु)

30 निपुणता से कार्य संपादन का अवसर दें

यदि कहा जाए कि अध्यक्ष के लिए गलत व्यक्ति का चयन हो गया तो वैसी स्थिति में भी उसको अकेले नहीं छोड़ा जा सकता। क्योंकि वह अपनी अयोग्यता से क्या कुछ कर बैठे, अत: सदैव उसके इर्द-गिर्द बने रहना आवश्यक है। कदाचित् वह कोई गलत मार्ग अख्तियार करे तो समय पर सही मार्ग दिखाया जा सके। उसका सड़क पर चलना ठीक है, पर वह पगडंडी के मार्ग पर चलने लगे तब भी उसका साथ नहीं छोड़ें। बीच में जहाँ भी मार्ग अवरुद्ध होगा, वहाँ आपको चिंतन को मौका मिलेगा। वहाँ उसे सही दिशा व मार्ग का बोध करवाना आपका सच्चा कर्तव्य होगा।

अत: जिसे जो कार्य सौंपा गया है, उसे अपनी निपुणता से कार्य संपन्न करने का अवसर भी देना चाहिए।

31 निराकुलता साधना का मर्म

उद्दंडता, शेखी बघारना आदि की प्रवृत्तियों को सह्य कर पाना अत्यंत कठिन है। ऐसी प्रवृत्तियों के प्रति संघर्ष की स्थितियाँ निर्मित हो जाना सहज-स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति में संतुलन बनाए रखना जरूरी है। यदि संतुलन बिगड़ गया तो स्थिति काफी गंभीर हो सकती है। उस समय की स्थिति के एक दृश्य को केवल झलक रूप में ही अनुभव किया जा सकता है। नियम की स्खलना व लापरवाही के प्रति जो अनुभूति होती है, वह शुभ है, पर उसकी प्रवृत्ति संशोधनीय है। प्रवृत्ति में संक्लिष्यमान भाव तिरोहित होने चाहिए। हर स्थिति में निराकूल रहना, साधक की साधना का मुख्य अंग है।

17 अगस्त, 1995 (बीकानेर)

31 निराकुलता साधना का मर्म

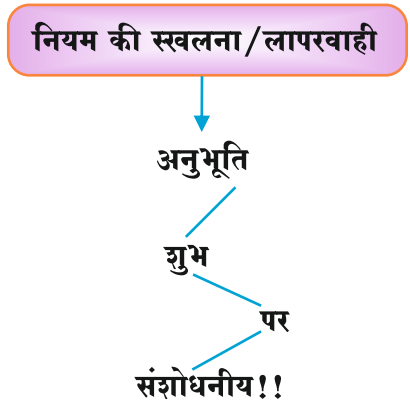

32

अहंकार में अन्वेषण

हम जैसा सोचते हैं, वैसा व्यवहार कर नहीं पाते। बीच में रुकावटें आ जाती हैं। बाधाएँ आ जाती हैं। बाधा के रूप में जो अवस्था है, उसे एक प्रकार से अहंकार की संज्ञा दी जा सकती है। वह कहता है कि तुम न्याय पक्ष में हो, तुम्हें अपने सैद्धांतिक धरातल पर अटल रहना चाहिए। तुम्हें झुकने की क्या आवश्यकता है। तुम दृढ़ रहो। इस अहंकार को स्वाभिमान का जामा भी पहना दिया जाता है। उसे सात्विक अवस्था भी अभिसंज्ञित कर दी जाती है। पर वस्तुत: उसका स्वरूप संक्लेश रूप में हो तो उसे क्या समझना? यह साधकों के लिए अन्वेषणकाय विषय है, जो मात्र ऊपर-ऊपर के विचारों से संभव नहीं है।

17 अगस्त, 1995 (बीकानेर)

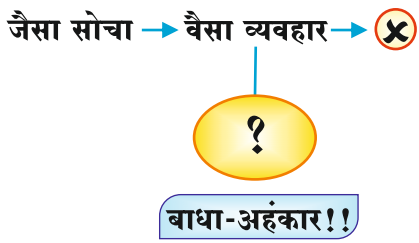
जैसा सोचा
वैसा व्यवहार
?
बाधा-अहंकार!!

33

अर्हं का अर्थ गांभीर्य

'अर्हं' पद साधना के क्षेत्र में अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इसमें जिन अक्षरों की संयोजना है, वह गांभीर्य पूर्ण है। 'अ' सकल सद्भूत पदार्थों का सूचक है। सद्भूत पदार्थों का तात्पर्य उत्पन्न, विनाश व ध्रौव्य अवस्था जिसमें हो। 'अ' में उक्त तीनों अवस्थाएं संग्रहीत हैं। 'अ' के अनेक अर्थों में ब्रह्मा-विष्णु एवं महेश अर्थ भी लिए गए हैं। 'ब्रह्मा' उत्पत्ति का सूचक है। 'विष्णु' विद्यमानता का सूचक है व 'शंकर' विनाश का प्रतीक है। इस दृष्टि से 'ब्रह्मा' उत्पाद का प्रतीक है, विनाश का प्रतीक 'शंकर' है व पदार्थों की विद्यमानता सूचक 'विष्णु' होता है। ये तीनों अवस्थाएँ 'अ' में निहित हैं। साथ ही अक्षरश्रुत में जितना भी श्रुत गृहीत है, उसका भी संकेत 'अ' से ध्वनित होता है।

नंदी सूत्र में द्वादशांगी को अक्षय-अव्यय कहा गया है। 'अ' अक्षय का प्रतीक है। अत: इसमें समग्र श्रुतज्ञान समाविष्ट हो जाता है। पाणिनीय व्याकरण में 'अ' के 18 रूप माने गए हैं। उसे 18 दोषों का प्रतीक समझा जा सकता है। 'र' अग्नि तत्त्व का बीज रूप है, जो ज्योति का प्रतीक है। ज्योति को प्रकट करने वाला है। इस ज्योति के प्रकट होने पर 'ह' विकारों के नाश का प्रतीक है। इसे हम निर्जरा तत्त्व

23 सितम्बर, 1995 (भीनासर)

के रूप में ग्रहण कर सकते हैं। 'ह' की ध्वनि होने पर भीतर के विकार बाहर आने का संकेत प्राप्त होता है। 'र' से ज्योति प्रकट होने पर अपने विकारों का ज्ञान होता है। साधक विकारों को देख पाता है। वे ही विकार 'ह' के द्वारा मुख खोलकर बाहर किये जाते हैं। 'म' के द्वारा संवर तत्त्व के रूप में पुन: उन विकारों के प्रवेश का निषेध है। 'म' की ध्वनि से मुख बंद होता है, यह संवर का स्वरूप है।

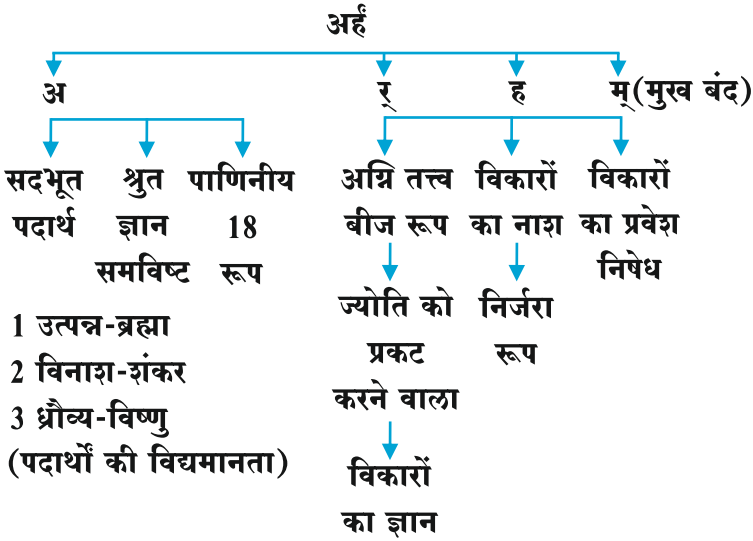

34 धर्म का फल : भविष्य में या अभी ?

'धर्म परलोक में काम आएगा' यह धारणा भ्रांति युक्त है। मानव की मनोवृत्तियों में परिग्रह की भी एक वृत्ति है। उसी वृत्ति के कारण जैसे वह धन, रुपये, पैसे, यश आदि का संग्रह करता है, वैसे ही वह मानता है कि धर्म का फल भविष्य (परलोक) में प्राप्त होगा। ऐसा मानकर वह धर्म को भविष्य के लिए संग्रह करता रहता है। यही कारण है कि वह वर्तमान में उसका लाभ उठा नहीं पाता है, जबकि भगवान महावीर का फरमाना है कि धर्म का फल वर्तमान में ही है। 'सोही उज्जुय भूयस्स' में 'ऋजु' भाव वाले की शुद्धि कही है, जो वर्तमान का संकेत है। अतीत के स्मरण व अनागत के चिंतन बिना जो वर्तमान कालिक अध्यवसाय होंगे, वे सरल होंगे। भूतकाल की इच्छाओं का प्रतिक्रमण, वर्तमान की इच्छाओं का संवर व भविष्यकालीन इच्छाओं का त्याग करने को कहा है। इससे भी वर्तमान का संकेत फलित होता है।

अत: धर्म को भविष्य व परलोक के लिए आवश्यक नहीं मानकर, वर्तमान में ही उसका लाभ होता है मानते हुए उसका अनुभव करना चाहिए।

30 नवम्बर, 1995 (भीनासर)

34 धर्म का फल : भविष्य में या अभी ?

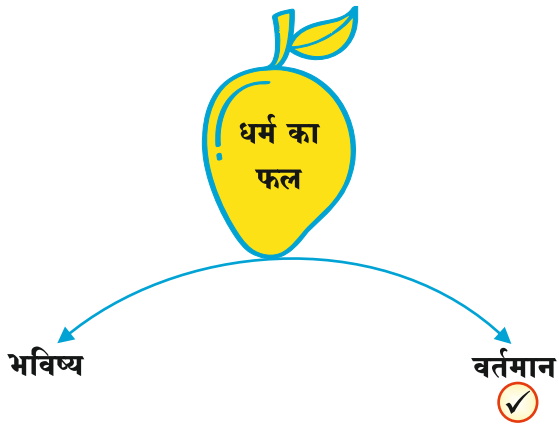

35

अनुभूति

साधना के क्षणों में जो अनुभूतियाँ हुईं, वे अनिर्वचनीय हैं। सर्वप्रथम प्रकाशपुंज सूर्य का अवतरण होता है। तत्पश्चात् एक नीले रंग का बिंदु अत्यंत भास्वान्, फिर उसमें से ज्योतिर्मय किरणों का विकीर्ण होना। आनंद से रोम-रोम पुलकित होना। एक भव्य दिव्य रूप का उभरना। कुछ क्षणों में अन्य भी दिव्य रूपों का उभार। अनहद नाद। आत्मा किसी अगम देश, दिव्यलोक में यात्रा कर रही थी। शरीर आत्मा की भिन्नता। शरीर की क्रियाएँ शून्य यानी शारीरिक व्यापार की तरफ पूर्ण अनभिज्ञता।

11 जनवरी, 1996 (जवाहर विद्यापीठ, भीनासर)

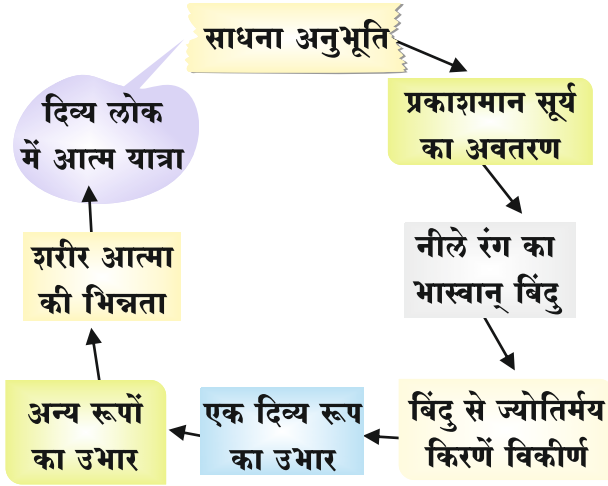
साधना अनुभूति
प्रकाशमान सूर्य का अवतरण
नीले रंग का भास्वान् बिंदु
बिंदु से ज्योतिर्मय किरणें विकीर्ण
एक दिव्य रूप का उभार
अन्य रूपों का उभार
शरीर आत्मा की भिन्नता
दिव्य लोक में आत्म यात्रा

36 आकांक्षारहित साधना तेजस्वी

11 जनवरी, 1996 के चिंतन में उल्लिखित आभास व अन्य रूप से कई आभास समय-समय पर होते हैं। पर प्रतिदिन उसी प्रकार का आभास हो, ऐसा नहीं होता है। कल के दृश्य को प्राप्त करने की आज की साधना में आकांक्षा रही, पर वैसा उपलब्ध नहीं हुआ। वस्तुत: भूल यह रही कि साधना में आकांक्षा को जोड़ दिया, जबकि साधना आकांक्षा रहित सहज और स्वाभाविक होनी चाहिए। उसे यदि आकांक्षा के साथ जोड़ा जाता है तो उसमें वह तेज, वह ओज आ नहीं सकता। अत: साधना-आराधना में प्राप्ति की आकांक्षा न हो, अपितु यह भाव होना चाहिए कि जो हमने जोड़ रखा है, संग्रह कर रखा है, उसे ढीला करें। उसे दूर करें। उसका त्याग करें। उससे साधना में चमक आती है।

12 जनवरी 1996 (भीनासर)

आकांक्षा रहित साधना तेजस्वी

37

आगम अध्ययन संविधा

आगमों के अध्ययन में सतत अवधानता संयम की अभिरुचि को बढ़ाती है, पर आगमों का अध्ययन विधिपूर्वक भक्ति व बहुमानपूर्वक होना चाहिए। शास्त्रों के अध्ययन के साथ-साथ उपधान तप का उल्लेख आता है। उसका तात्पर्य अध्ययन के साथ-साथ जीवन में उसका आचरण भी हो, क्योंकि रसगृद्ध आत्मा को आगम ज्ञान का अधिकारी नहीं माना गया है। अत: रस विजय रूप उपधान, आयम्बिल तप आगम अध्ययन के साथ-साथ होना चाहिए। आगम अध्ययन विधि -

- गुरु व ज्ञान के प्रति आस्था, भक्ति, बहुमान।
- गुरु की सेवा, शुश्रूषा ज्ञान को फलवान बनाते हैं।
- रस परित्याग।
- अल्प-निद्रा।
- अवमौदर्य तप।
- योग-ध्यान की प्रतिदिन सेवना।

12 जनवरी, 1996 (भीनासर)

गुरु + ज्ञान
आस्था, भक्ति, बहुमान

+

अल्प निद्रा

+

गुरु की सेवा
सुश्रूषा

+

अवमौदर्य तप

रस परित्याग

+

योग, ध्यान प्रतिदिन

38

मूल मनोवृत्ति पर विजय

जो मनोवृतियाँ चिर संचित होती हैं, उनसे छुटकारा पाना अति कठिन कार्य है। दृढ़ मनोबली महात्मा भी मूल मनोवृत्तियों के समक्ष स्वयं को निरुपाय मान लेते हैं। मूल मनोवृत्तियों का समय-समय पर भार होता है। उनसे होने वाली अवस्थाओं से विज्ञ होते हुए वे उन मनोवृत्तियों पर विजय पाने के कारगर उपायों से भी अवगत होते हैं, पर उभार के समय वे सारे अवस्थाजन्य ज्ञान एक प्रकार से लुप्त हो जाते हैं। उस समय मूल मनोवृत्ति का ही साम्राज्य व्यापक हो जाता है। अंततोगत्वा वह एक बार पुन: हताश-निराश हो जाता है। मूल मनोवृत्ति जब अपना काम कर चुकती है, तब पुन: वह सोचता है कि अब ऐसा नहीं होने दूंगा पर वह भी उसी समय तक, जब तक मूल मनोवृत्ति धावा नहीं बोल देती। अत: मूल मनोवृत्ति को दूर करने के लिए द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को ध्यान में रखकर मनोबल को दृढ़ बनाना आवश्यक है।

13 जनवरी, 1996 (भीनासर)

38 मूल मनोवृत्ति पर विजय

मूल मनोवृत्ति - विजय - अतिकठिन

↓

दृढ़ मनोबल आवश्यक

39

आत्मिक आनंद का सूत्र : पाँच समितियाँ

पाँच समितियों का पालन/आचरण श्रेष्ठ/उत्तम जीवन शैली है। इस प्रकार से जीवन जीया जाए तो व्यक्ति के जीवन में किसी तरह का तनाव-टेंशन आदि का प्रसंग ही नहीं रह सकता। जीवन में आनंद का स्रोत, शांति का झरना प्रवाहित होने लगेगा।

पाँच समितियों में प्रथम ईर्या समिति है। उसमें आत्मानुशासन की गहरी निष्ठा है। ईर्या समिति वाला इस दृढ़ मानसिक संकल्प से जीता है कि ज्ञान-दर्शन-चारित्र की अभिवृद्धि अथवा सुरक्षा का प्रसंग होने पर ही वह अपना चरण-विन्यास करेगा और चरण-विन्यास में भी यह संकल्प रखता है कि उस समय चलने की क्रिया के अतिरिक्त उसका कोई ध्येय नहीं है। न वार्तालाप करना और न मन में कल्पनाओं की उड़ान भरना और न ही इधर-उधर के दृश्यों में चित्त को लगाना। बस उसका एकमात्र ध्येय चलना है। चलने की क्रिया में ही वह अपना सारा उपयोग नियोजित करता है। इसी तरह भाषादि समितियों के विषय में साधक जागृत हो साधनामय जीवन से आनंद की अनुभूतियाँ कर सकता है। बिना इनकी साधना के कोई चाहे कि मैं आनंद से भर जाऊँ, तो यह असंभव है। एक वर्ष तक आगम विद्या के अनुसार पाँच समितियों की आराधना करके साधक अनुत्तर विमान के तेज से भी बढ़कर विशुद्धतर लेश्या के साथ आत्मिक सुख से समृद्ध हो सकता है।

14 जनवरी, 1996 (भीनासर)

39

आत्मिक आनंद का सूत्र : पाँच समितियाँ

आध्यात्मिक आनंद = पाँच समितियों का पालन

40

अनुभूति रहित अभिनय

आध्यात्मिक अनुभूतियों के बिना ऊपर-ऊपर से जीया जाने वाला साधनामय जीवन व्यक्ति के जीवन को रूपांतरित नहीं कर सकता। और नहीं तो उसके जीवन में विकारों के प्रवेश के प्रसंग बन जाया करते हैं। वह अपनी ऊपरी साधना के लेवल को मापदंड बनाकर चलता है जो कि प्राय: दोहरा या डुप्लीकेट दिखावा होता है। आंतरिक स्थितियाँ उससे बहुत भिन्न होती हैं। दुनिया में दिखावे के लिए ऊपरी साधना के साथ आंतरिक अवस्था को अभिव्यक्त करने के प्रयत्न में भाव सत्य रह नहीं पाता। भाव सत्य को भुलाकर बचाव के लिए शब्दाडंबर को माध्यम बनाकर सोच लेता है कि मैं अपने आपको सही रूप में उपस्थित कर पाया हूँ। पर यह एक प्रकार से अभिनय का ही रूप है। रंगमंच उस प्रकार का भले ही न हो, पर यह विश्व ही रंगमंच है।

15 जनवरी, 1996 (भीनासर)

अनुभूति रहित अभिनय

41

शब्द चयन का कौशल

मानव स्वभाव कटुता को पसंद नहीं करता है। कठोर, कटु शब्द भी उसके हृदय-तंत्र का छेदन करने वाले बन जाते हैं। वहीं मधुर, कोमल शब्द व्यक्ति के हृदय को प्रभावित करते हैं। कठोर शब्द से हृदय में भय व्याप्त हो सकता है, पर प्रेम-अनुराग नहीं। प्रेम-अनुराग का झरना पारस्परिक संबंध से प्रवाहित होता हुआ आदान-प्रदान से बढ़ता है। जैसे खोटा सिक्का बाजार में इज्जत घटाने वाला होता है और खरा सिक्का इज्जत बरकरार रखने वाला व बढ़ाने वाला होता है, वैसे ही अच्छा शब्द इज्जत बढ़ाने वाला होता है। शब्दों का उच्चारण करने के पूर्व शब्द भंडार में से शब्दों का चयन कर ऐसे शब्दों का प्रयोग करना सीखें जो मधुर व दूसरों को जोड़ने वाले हों।

19 जनवरी, 1996 (भीनासर)

शब्द चयन का कौशल

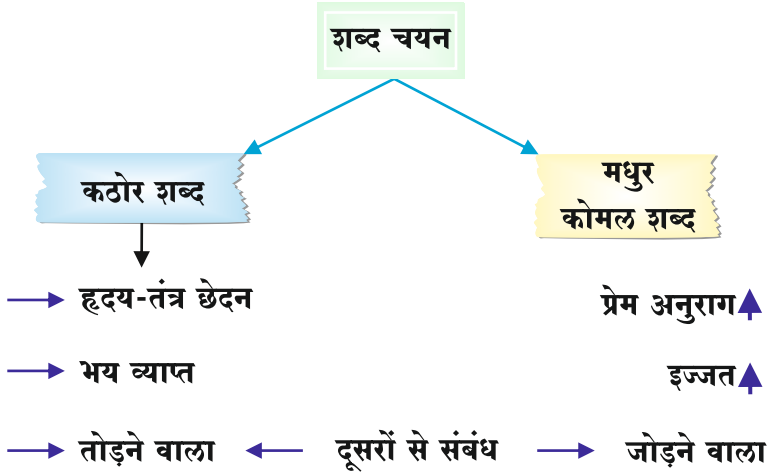
शब्द चयन
कठोर शब्द
मधुर
कोमल शब्द
हृदय-तंत्र छेदन
भय व्याप्त
तोड़ने वाला
दूसरों से संबंध
प्रेम अनुराग
इज्जत
जोड़ने वाला

42

ऊर्द्ध्वारोहण

साधना के क्षणों में ऊर्द्ध्वारोहण क्रम के साथ-साथ पूरा हॉल दिव्य प्रकाश से भर गया। ऊर्द्ध्वारोहण-अवरोहण का क्रम भी बड़ा आकर्षक था। एक गोल डंडाकार ऊपर उठता है, उसके साथ चेतना का आरोहण होता है। एक बार बहुत गहराई में उतरना हुआ। उस समय सहसा क्षणिक भय की अनुभूति हुई। फिर, सामान्य स्थिति बन गयी। बहुत-सी अनुभूतियों को तो शब्दांकित करना नामुमकिन है।

21 जनवरी, 1996 (भीनासर)

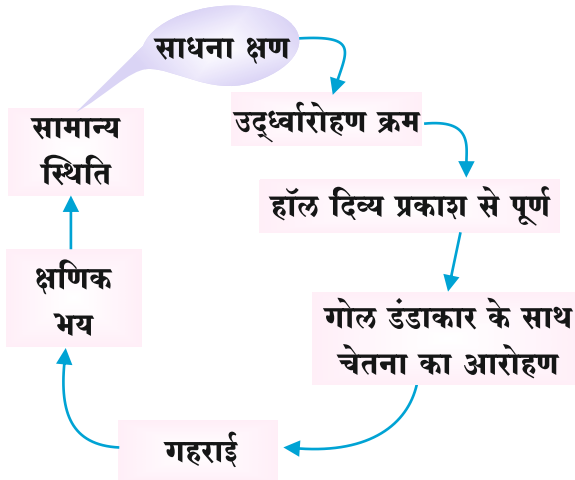
साधना क्षण
उद्ध्वारोहण क्रम
हॉल दिव्य प्रकाश से पूर्ण
गोल डंडाकार के साथ चेतना का आरोहण
गहराई
क्षणिक भय
सामान्य स्थिति

43

उपदेश आचरण से

प्रारंभ में कुछ अन्यमनस्कता रही। बाद में चित्त की प्रफुल्लता रही। चेतना का लगभग 8-10 फुट तक ऊद्‌र्ध्वारोहण आनन्द का स्रोत।

हमारा आचरण ही उपदेश होना चाहिए, न कि कोरा उपदेश। आचरण से जो उपदेश होगा, वह अपूर्व होगा, अद्‌भुत होगा। आज दुविधा यह है कि उपदेश तो बहुत जोश-खरोश के साथ होता है, पर जिन कमजोरियों के लिए श्रोताओं को ललकारा जाता है, वक्ता कमोबेश उन कमजोरियों से स्वयं ग्रस्त होता है। ऐसे में वह उपदेश कितना कारगर हो सकता है, यह चिंतन का विषय है। अत: पहले हम जीना सीखें। जीने से जो अनुभव प्राप्त हो, वह अन्यों को दें तो वह विषय प्रत्येक के लिए हितकारक व पथ्य बन सकता है।

25 जनवरी, 1996 (भीनासर)

उपदेश आचरण से

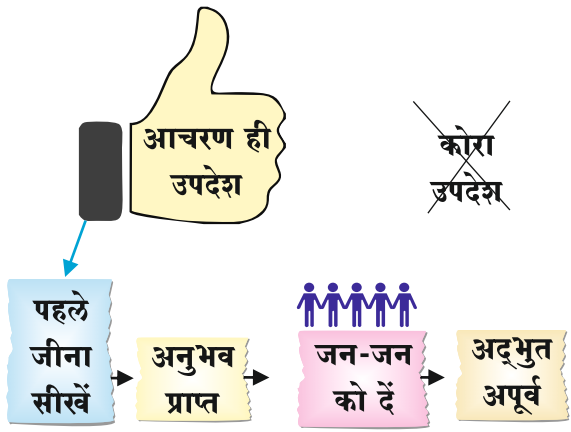

44 जैसी सामग्री, वैसा निर्माण

मन को जैसी सामग्री प्राप्त होगी, उसी प्रकार के विचारों का निर्माण होगा। एक व्यक्ति यदि निरंतर आगमों के अध्ययन, मनन, परिशीलन में लगा रहता है तो उसकी भाषा शास्त्रीय भाषा बन जाती है। बड़ों के प्रति उसमें विनय व बहुमान समाविष्ट होगा। वहीं दूसरी ओर यदि अखबारी दुनिया व समाचार एजेंसियों से कोई गुजरता है, उन्हीं के मनन व अनुशीलन में अनुरक्त रहता है तो उसकी भाषा पार्टी पॉलिटिक्स की होगी। तोड़-फोड़ की होगी। हड़ताल व धरना जैसे स्वर अनुगुंजित होंगे। व्यवहार में दुराग्रह-कदाग्रह होगा। अपनी बात को जमाने के लिए अपने स्वर में औरों का स्वर भी मिलाने के लिए वैसे ही कुछ व्यक्तियों को तैयार करने का प्रयत्न होगा। स्वस्थ जीवन में अखबारी भाषा कितनी हानिकर हो सकती है, यह अनुभव किया जा सकता है। आज साधुओं में बढ़ता अखबारी माहौल वस्तुत: चिंतनीय है। भगवान ने साधुओं के लिए चार विकथा का निषेध किया है। अत: उनसे बचते हुए स्वयं को स्वाध्याय में नियोजित करना चाहिए।

22 मार्च, 1996 (बीकानेर)

जैसी सामग्री = वैसा निर्माण
आगम
अध्ययन
मनन,
अनुशीलन
शास्त्रीय
भाषा
+
विनय +बहुमान
अखबारी दुनिया,
समाचार एजेंसी
मनन,
अनुशीलन
तोड़फोड़ भाषा,
पॉलिटिक्स
दुराग्रह
साधुओं हेतु निषेध

45 सारल्य में सद्गुणों का प्रस्फुटन

आज साधना का स्वरूप मात्र पोशाक तक रह गया है। जैसे सामायिक की पोशाक पहनने मात्र से सामायिक की साधना नहीं होती, वैसे ही साधु जीवन की पोशाक मात्र साधु जीवन नहीं है। साधना में, सत्य-अहिंसा में स्वयं को निमग्न करना साधना है। साधु पोशाक पहनकर सांसारिक प्रपंचों में रचने-पचने वाला यथार्थ में साधु नहीं है।

माया-छल, प्रपंच जहाँ विद्यमान है, वहाँ सद्गुणों का प्रकटीकरण अथवा प्रस्फुटन संभव नहीं है, क्योंकि बीजों को भी उगने के लिए योग्य भूमि की अपेक्षा होती है। वैसे ही सद्गुणों के प्रस्फुटन हेतु जीवन में सारल्य अपेक्षित है।

13 अप्रैल, 1996 (बीकानेर)

45 सारल्य में सद्गुणों का प्रस्फुटन

सामायिक/साधु वेश = सामायिक साधना/साधुता

कथ्य के त्रिरत्न

कोई भी बात किसी से कहनी हो तो उसमें तीन बिंदुओं का ध्यान रखना चाहिए। जो बात कही जा रही हो –

1) आत्मविश्वास पूर्वक कही जाए।

2) शांत भाव से कही जाए।

3) उसका विश्लेषण धैर्यपूर्वक किया जाए।

इस प्रकार से कही गई बात दूसरों पर प्रभावोत्पादक होती है। अन्यथा आत्मविश्वास के अभाव व उत्तेजनापूर्वक कही गई सत्य बात भी विश्वासदायक नहीं हो पाती।

3 जुलाई, 1996 (श्री बालाजी)

कथ्य = आत्मविश्वास
+
शांत भाव
+
विश्लेषणपूर्वक

दिनांक 19, 20 व 21 को आचार्य भगवन् की स्मृतियों का अंबार ही लग गया। पता नहीं क्यों रह-रहकर स्मृतियों में तीव्रतम उभार आ रहा था। हृदय गमगीन होता रहा। मन झलकियों में खो रहा था। दिल, आचार्य भगवन् की अत्यंत निकटता का अनुभव कर रहा था। लग रहा था कि आचार्य प्रवर की चरण परिधि में ही बैठा हुआ हूँ। ऐसी स्मृतियाँ इस प्रवास में प्रथम अनुभूत हुई।

21 जुलाई, 1996

स्मृतियाँ

आचार्य भगवन् की अत्यंत निकटता अनुभूत

48

दान या दाँव

'दान दिया धन ना घटे' पद पर चिंतन करते हुए लगा कि दान देने वाला देवता हो जाता है, जबकि दाँव खेलने वाला दानव बनता है। दान की श्रेष्ठता पात्रता के आधार पर तय की गई है। सुपात्रदान, अभयदान को सर्वश्रेष्ठ दान माना गया है, जबकि श्रावक व सम्यग्दृष्टि को दिया गया दान मध्यम दान की श्रेणी में आता है। जिस दान के पीछे व्यक्ति दाँव खेलता है कि अमुक मकान पर, अमुक हॉल पर, अमुक कमरे पर नाम की पटिया लगे तो निश्चित मैं राशि दान कर सकता हूँ तो उस प्रकार की भावना में दान गौण हो जाता है। नाम का दाँव प्रमुख हो जाता है।

अत: दान देने वाला मानव देवता जबकि दाँव खेलने से दानव बन सकता है।

24 जुलाई, 1996 (पुट्ठोली)

दान या दाँव

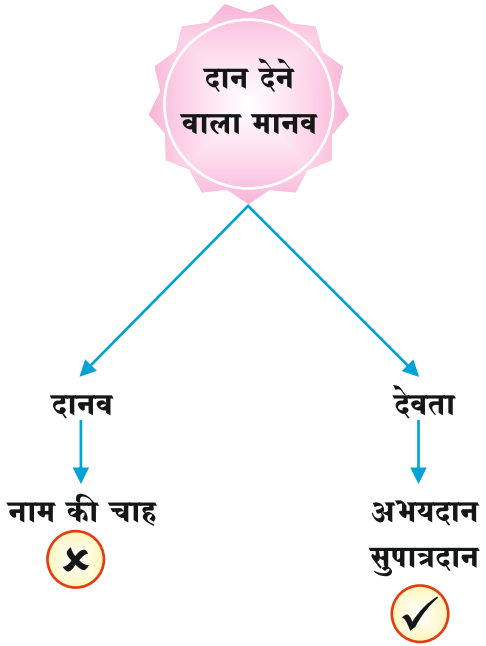

49

प्रवाहपाती अवस्था

मनुष्य, तृष्णा व वासना रूपी दो पाटों के बीच पिसता जा रहा है। उसका स्वयं का स्वरूप विलुप्त-सा होने लगा है। मानवता का झरना उसके फौलादी हृदय से प्रवाहित ही नहीं हो पा रहा है। यह स्थिति कहाँ तक पहुँचेगी? इसके क्या परिणाम आ सकते हैं, इस ओर से विमुख बना हुआ मनुष्य प्रवाहपात में बहने में ही आनंद मना रहा है, जबकि वहाँ सुख भी नहीं है। मात्र सुखाभास है। उसी सुखाभासी मृग मरीचिका में वह बेभान बना हुआ है।

मानव! जरा करवट ले। शव की तरह पड़े रहना, प्रवाहपाती होना तेरा स्वभाव नहीं है।

14 अगस्त, 1996 (निम्बाहेड़ा)

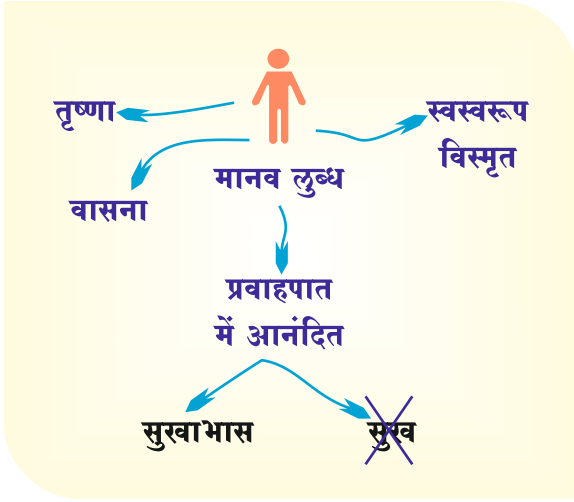
तृष्णा
स्वस्वरूप
विस्मृत
मानव लुब्ध
वासना
प्रवाहपात
में आनंदित
सुखाभास
सुख

50

स्व में स्व का प्रवेश

धर्म का स्वरूप स्वभाव है। अपने स्वभाव से हटकर जैसे ही पर के प्रति आकृष्ट होता है, वहीं स्वयं विकृत हो जाता है। आत्मा जब भी पर की आकांक्षा करती है, वह आकांक्षा सुख की अभिलाषापूर्वक होती है, पर घटित विपरीत होता है। वहाँ सुख नहीं, दु:ख होता है। अत: अपने धर्म से जो हटेगा, च्युत होगा, उसमें विकार प्रवेश कर जाएगा। वह तनावग्रस्त होगा। इसलिए धर्म की आराधना का अर्थ है –

स्व में स्व का प्रवेश होना।

1996 (निम्बाहेड़ा)

धर्म का स्वरूप = स्वभाव

स्व में स्व का प्रवेश

51 नमन की भावधारा कैसी?

जब हम नमस्कार करते हैं, तब वह अरिहंतों के लिए नहीं, अपितु स्वयं के लिए होता है, क्योंकि उसका परिणाम स्वयं को प्राप्त होता है। अरिहंत निमित्त हैं। हमारा नमन अरिहंतों की दिशा में, अरिहंतों की तरफ होना चाहिए, ताकि अर्हता हमारे भीतर प्रविष्ट हो सके। जैसे कुएँ से पानी निकालने के लिए बालटी को पानी की तरफ नमाना (झुकाना) होता है, वैसे ही 'नमो अरिहंताणं' कहते हुए हमारी मानसिक, वाचिक व कायिक अवस्था के साथ-साथ भावधारा भी पूर्णतया अरिहंतों के गुण प्राप्ति की तरफ झुकी होनी चाहिए। तभी नमन पापों का नाश करने में समर्थ होगा।

8 सितम्बर, 1996 (निम्बाहेड़ा)

51 नमन की भावधारा कैसी?

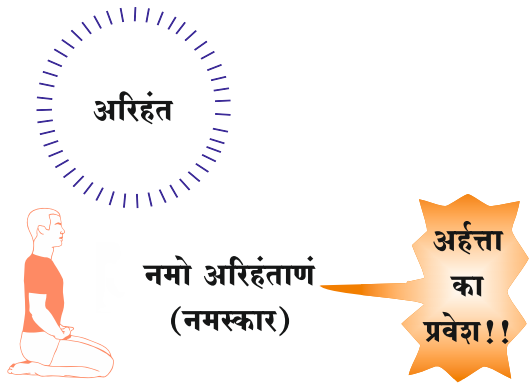

52 प्रतिज्ञा कवच

भंते! दाँत कठोर हैं, चबाने की मेहनत करते हैं, पर पदार्थों के स्वाद से वंचित रहते हैं, जबकि जिह्वा कोमल है, ज्यादा मेहनत नहीं करती, फिर भी वह स्वाद का मजा लेती है, इसका क्या कारण है?

वत्स! दाँत की भाँति प्रतिज्ञा सूत्र हैं। प्रतिज्ञा सूत्रों का पालन कठिनता से होता है। उसके लिए पुरुषार्थ करना पड़ता है, पर उससे जो आनंद मिलता है, वह उन सूत्रों को नहीं, आत्मा को मिलता है। प्रतिज्ञा रूपी कठोर दाँतों रूपी सुरक्षा कवच से ही जिह्वा रूपी आत्मा कोमल हो पाती है, सरल हो पाती है और उसकी सुरक्षा हो पाती है। अत: प्रतिज्ञा कवच को अवश्य स्वीकार करना चाहिए।

9 सितम्बर, 1996 (निम्बाहेड़ा)

प्रतिज्ञा कवच

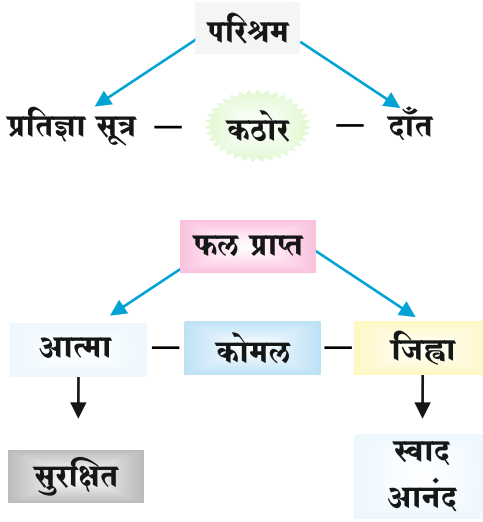

53

हवाला भीतरी भी

आज सुना जा रहा है कि हवाला कांड ने देश को जर्जरित कर दिया है। वह किसी रूप में सत्य हो भी सकता है, पर स्वयं चिंतन करें कि हमने कितने हवाला कांड किए हैं! हमारे मन ने, हमारे वचन ने, हमारी काया ने कितने-कितने हवाला कांड करके आत्मा को सताया है। आत्मा को जर्जरित किया है, त्रस्त किया है। अत: केवल बाहर के हवाला कांड पर ही दृष्टि केंद्रित न हो। अपने भीतर घटित होने वाले हवाला कांडों की तरफ अपनी जागरूकता बरतें, यही श्रेयस्कर है। साथ ही निर्ग्रंथ श्रमण संस्कृति में ऐसे हवाला कांड घटित न हों इस दिशा में अपेक्षा है कि प्रत्येक सदस्य जागरूक रहें।

9 सितम्बर, 1996 (निम्बाहेड़ा)

हवाला भीतरी भी

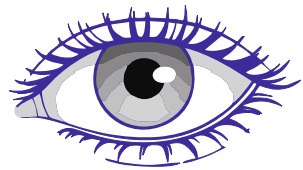

दृष्टि

✗ बाहरी हवाला कांड

✓ भीतरी (मन, वचन, काया) हवाला कांड

अभयदान स्व-सापेक्ष

अभयदान सभी दानों में श्रेष्ठ है। अभयदान का एक मात्र यही अर्थ नहीं है कि मरते जीव को बचा लिया जाय अथवा किसी जीव को मारा नहीं जाय। इसका कारण है कि हमने अपने पास बारूद भर रखा हो तो दूसरों को अभय कैसे दे सकते हैं! क्योंकि जहाँ बारूद है, वहाँ भय है। जो स्वयं अभय नहीं, वह दूसरों को क्या अभय दे सकता है! हमारे पास कोई वस्तु हो, तभी तो हम किसी को उसमें से कुछ दे सकते हैं! जो वस्तु हमारे पास ही नहीं हो, उसे हम दूसरों को कहाँ से दे सकते हैं? कवि आनंदघन जी ने भी श्रेयांसनाथ भगवान की स्तुति करते हुए कहा है- 'अभयदान ते मल क्षय करुणा' अर्थात् अभयदान वह है जो कर्म रूपी मल के क्षय होने से पैदा होता है। कर्म रूपी मल के क्षय से हम अपनी आत्मा को भयमुक्त करते हैं, वही अभय है। अत: अभय का अर्थ केवल पर-सापेक्ष नहीं होकर स्व-सापेक्ष होना अधिक संगत प्रतीत होता है।

9 अक्टूबर, 1996 (निम्बाहेड़ा)

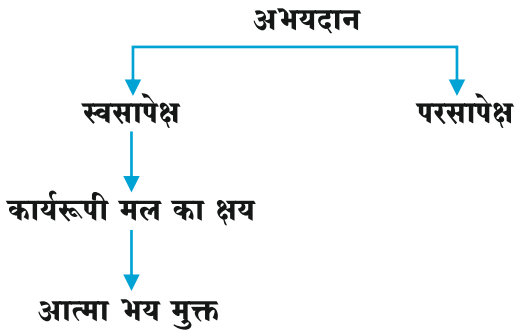
अभयदान
स्वसापेक्ष
परसापेक्ष
कार्यरूपी मल का क्षय
आत्मा भय मुक्त

55

अलविदा

अब तक हम अनादि के प्रवाह में हैं। इसका कारण है कि हमने स्वयं को सीमित बनाए रखा। हमारी आशा, तृष्णा, महत्त्वाकांक्षा नए-नए घर व नए-नए परिवेश बनाती रही और हम उसके जाल में उलझते रहे, फँसते रहे। हमारी दृष्टि ससीम बनी रही। खुले आकाश को हमने कभी नहीं निहारा। हमने कुएँ को ही सब कुछ समझा, पर जब आत्मा का बोध हुआ, वह तृष्णा, आशा, महत्त्वाकांक्षा आदि के स्वरूप की ज्ञाता बनी, तब वह अनंत में प्रवेश कर जाती है। उस क्षण में हम अपनी तृष्णा, महत्त्वाकांक्षा से कहेंगे- हे तृष्णे! अब तक तुम्हारे कारण हम अनादि के प्रवाह में बह रहे थे, लेकिन अब हमारे लिए तुम्हें नया घर बनाने की आवश्यकता नहीं। नया परिवेश खोजने की आवश्यकता नहीं। अब हम ससीम नहीं हैं। अब हमने अनंत में प्रवेश कर लिया है। अनंत यानी जिसका कोई अंत नहीं। जिसकी कोई सीमा नहीं। अत: अब हमारी दृष्टि सीमित नहीं हो सकती।

तुम्हारे कारण से हम अनादि के प्रवाह में बह रहे थे, पर अब भ्रमजाल से मुक्त होकर अनंत की यात्रा पर कदम बढ़ा रहे हैं। अत: यात्रा से पूर्व अलविदा... अलविदा ... अलविदा...

10 अक्टूबर, 1996 (निम्बाहेड़ा)

अलविदा

तृष्णा

अनंत की यात्रा शुरू

56

छोटी सी त्रुटि

छोटी-सी त्रुटि कितना भयंकर रूप धारण कर सकती है, यह सोचा नहीं जा सकता है। जैसे छोटी-सी चिनगारी को ईंधन रूप सामग्री मिल जाए तो थोड़ी ही देर में सजे-संवरे नगर को भस्म कर देती है, ठीक वैसे ही छोटी-सी गलती भी जीवन के सुख को नष्ट-भ्रष्ट कर सकती है। द्रौपदी की छोटी-सी व्यंग्योक्ति महाभारत का कारण बन गई। अत: छोटी-सी दिखने वाली गलती/त्रुटि को भी तत्काल दूर करने का लक्ष्य रखना चाहिए।

19 जून, 1996 (नागदा)

छोटी सी त्रुटि

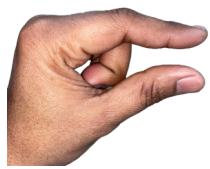

छोटी-सी गलती

तत्काल
दूर
करना

57 संवर : आत्म संपदा का ताला

'संवर' का अर्थ आस्रव-निरोध लिया जाता है। यथा- 'आस्रवनिरोध: संवर:' किंतु चिंतन करते हैं तो संवर का आत्मपरक अर्थ होगा- आत्मा के गुणों का संवरण करना।

'संवृत योनि' का अर्थ 'ढकी हुई योनि' किया जाता है। कहते हैं वैसे ही 'संवृत' अणगार का भी उल्लेख श्री भगवती सूत्र में प्राप्त होता है। संवृत यानी जिसने आत्मा को आवृत कर लिया है, ढक लिया है, संवृत कर लिया है, ताकि आत्मा के गुणों को कोई चुरा नहीं सके। चुराने का तात्पर्य, उन्हें तिरोहित नहीं कर सके। पानी गिरने पर लोग छतरी ओढ़ लेते हैं। उसका एक अर्थ यह होगा कि पानी से बचने के लिए छतरी ओढ़ी है, पर उसका प्रवृत्यात्मक अर्थ होगा कि शरीर की सुरक्षा हेतु छतरी ओढ़ी गई है। अत: संवर का अर्थ आत्मपरक होगा कि आत्मा की सुरक्षा, आत्मा के गुणों की सुरक्षा जिससे हो, वह संवर। बैग-बॉक्स पर ताला इसलिए नहीं लगाते कि कोई वस्तु अंदर नहीं चली जाए, बल्कि ताला इसलिए लगाते है कि बॉक्स में रहे हुए मूल्यवान आभूषण का कोई हरण नहीं कर ले। इसी तरह संवर आत्मा के लिए ताला है। ताकि आत्मा के अंदर रहे हुए गुणों को कोई तहस-नहस नहीं कर सके। अत: संवर, आत्म सम्पदा की सुरक्षा करने वाला है।

28 जून, 1996 (गोगापुर)

संवर : आत्म संपदा का ताला

58

प्रमाद थोड़ा भी नहीं

स्वभावगत स्थितियों का सहसा परिवर्तन नहीं हो पाता है। उनका परिमार्जन करने के लिए सतत जागरूक रहना आवश्यक है। यदि थोड़ा भी प्रमाद हो जाए तो व्यक्ति/साधक पुन: उन स्वभावगत स्थितियों की पकड़ में आ जाता है। इसलिए कहा गया है- 'समयं गोयम मा पमायए।' अत: साधक को चाहिए कि निज स्वभाव की निरंतर समीक्षण प्रज्ञा से समीक्षा करते हुए वैभाविक अवस्थाओं से स्वयं को ऊपर उठाने का प्रयत्न करे, क्योंकि जो समय निकल जाता है, वह पुन: लौटकर नहीं आता।

1 जुलाई, 1997 (खारवा)

प्रमाद थोड़ा भी नहीं

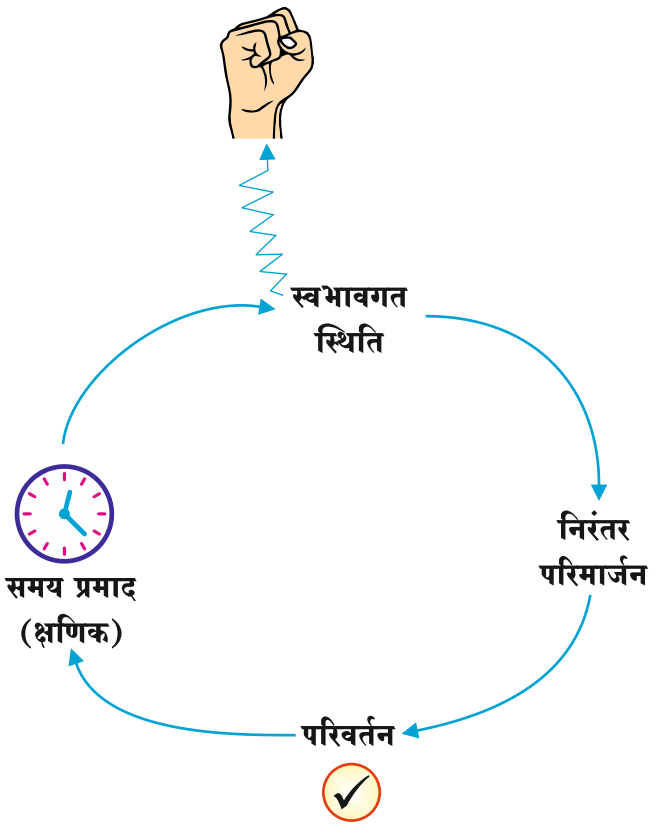

59

नरक-स्वर्ग कहाँ?

नरक कहाँ है? उत्तर मिलता है अधोलोक में। स्वर्ग कहाँ है? उत्तर मिलेगा ऊद्‌र्ध्वलोक में। पर यदि गहराई से विचार किया जाए तो नरक एवं स्वर्ग पहले हम अपने भीतर निर्मित करते हैं। यदि हम अपने भीतर नरक पैदा नहीं करें तो कोई शक्ति हमें अधोलोक स्थित नरक में ले जा नहीं सकती। भगवान महावीर स्वयं फरमाते हैं- नैरयिक, नरक में उत्पन्न होता है, अनैरयिक नहीं। जिसने अपने भीतर नरक पैदा कर लिया है, ऐसा प्राणी नैरयिक कहलाता है और वही उस अधोलोक स्थित नरक में उत्पन्न होता है। ऐसे ही जो अपने भीतर स्वर्ग अथवा मोक्ष पैदा कर ले तो स्वर्ग अथवा मोक्ष क्षेत्र में जा सकता है।

अत: देखना यह है कि हम स्वयं में क्या पैदा कर रहे हैं!

2 जुलाई, 1997 (ताल)

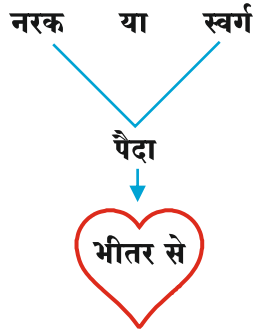
नरक
या
स्वर्ग
पैदा
भीतर से

60

दर्शन सप्तक में चारित्रमोह

सम्यक्त्व प्राप्ति के लिए अनंतानुबंधी चतुष्क क्रोध, मान, माया, लोभ व दर्शनत्रिक मिथ्यात्व मोहनीय, सम्यक्-मिथ्या मोहनीय और समयक्त्व मोहनीय इन सात प्रकृतियों का उपशम, क्षय, क्षयोपशम आवश्यक माना गया है। मोहकर्म के दर्शन मोह व चारित्र मोह- इस प्रकार दो भेद होते हैं। दर्शन मोह में मिथ्यात्व आदि तीन प्रकृतियाँ व चारित्र मोह के अंतर्गत अनंतानुबंधी आदि सोलह कषाय व नौ नोकषाय रूप पचीस प्रकृतियाँ मानी गई हैं। जब अनंतानुबंधी चारित्र मोहांतर्गत है तो फिर सम्यक्त्व की प्राप्ति में उसके क्षय-क्षयोपशम आदि की आवश्यकता क्यों?

उसका समाधान यह है कि सम्यक्त्व की प्राप्ति में मोह की प्रकृतियों के क्षय आदि की ही अपेक्षा है। दर्शन मोह आदि के क्षयादि से दर्शन शुद्धि होती है। पर दर्शन शुद्धि की अभिव्यक्ति उसके आचरण से होती है। वह आचरण शुद्धि अनंतानुबंधी के क्षयादि से संभव है। अत: सम्यक्त्व की प्राप्ति में समुच्चय रूप से सात प्रकृतियों के क्षयादि का कथन किया जाता है।

3 जुलाई, 1997 (ताल)

दर्शन सप्तक में चारित्रमोह

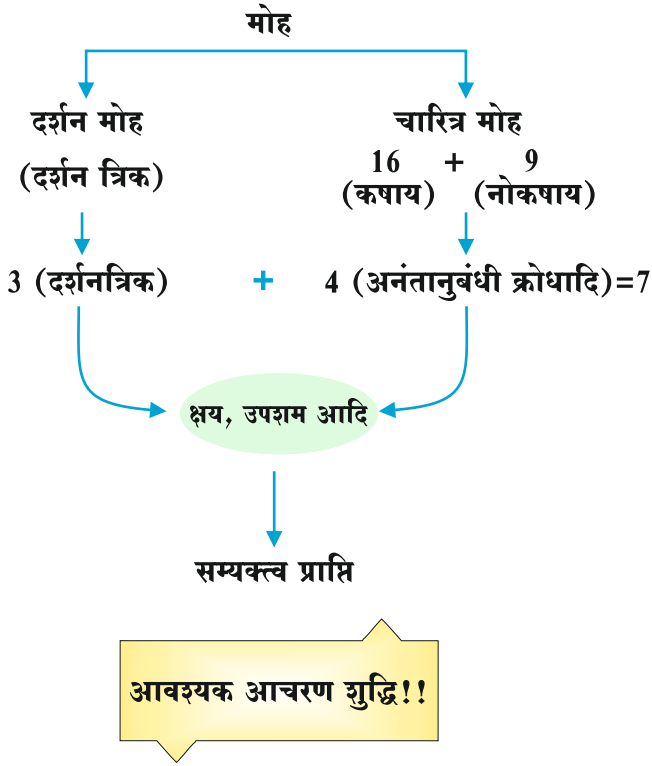

61 इहलोक भय-परलोक भय

मनुष्य को मनुष्य की तरफ से होने वाली प्रताड़ना के प्रति आत्म-कम्पन को इहलोक भय समझना चाहिए। परलोक भय का अर्थ यह नहीं कि अन्याय-अत्याचार करने से परलोक बिगड़ जाएगा। इहलोक भय का तात्पर्य है कि मनुष्य को देव आदि द्वारा दिए जाने अथवा प्राप्त होने वाले उपसर्ग आदि के संवेदना से होने वाले प्रकम्पन। अर्थात् देव, पशु आदि द्वारा दिये जाते हुए उपसर्ग के क्षणों में होने वाला प्रकंपन मानसिक परलोक भय की श्रेणी में आता है। इहलोक आदि भयों की उपस्थिति में धर्म की सम्यक् आराधना संभव नहीं है।

4 जुलाई 1997 (ताल)

61 इहलोक भय-परलोक भय

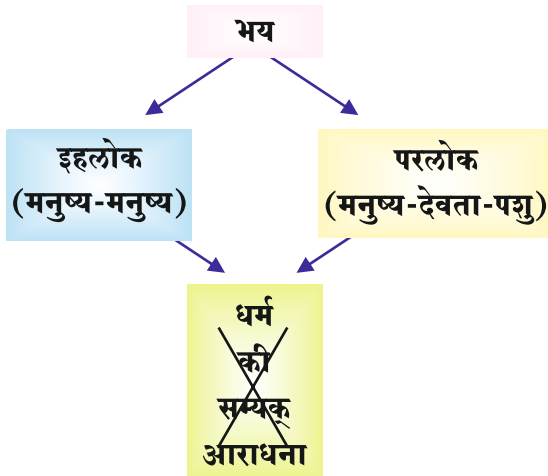

62

दान का स्वरूप

दान, संसार सागर से तिराने वाला है, पर वह दान मात्र द्रव्य का विसर्जन ही नहीं है। द्रव्य विसर्जन के साथ भावों का विसर्जन भी आवश्यक है। भावों की शुद्धि से दान का माहात्म्य बढ़ जाता है। द्रव्य का विसर्जन तो नागश्री ब्राह्मणी ने भी किया था पर उससे उसने संसार परित करने के बजाय संसार परिभ्रमण का ही कार्य किया, क्योंकि उसके भाव शुद्ध नहीं थे। भाव शुद्धि से शालिभद्र की आत्मा ने पूर्व भव में (ग्वाले के भव में) खीर का दान देकर संसार सीमित कर लिया। अत: दान के साथ भाव शुद्धि अत्यंत आवश्यक है। विशुद्ध भावों से दिया गया सुपात्र दान शीघ्र ही संसार से तिरा देता है। भाव विशुद्धि के साथ-साथ द्रव्य शुद्धि को भी भूलना नहीं चाहिए। द्रव्य शुद्धि का तात्पर्य है कि द्रव्य संतों के निमित्त से बना हुआ नहीं होना चाहिए। साथ ही रस चलित भी नहीं हो अर्थात् पदार्थ विकृत नहीं होना चाहिए।

5 जुलाई 1997 (ताल)

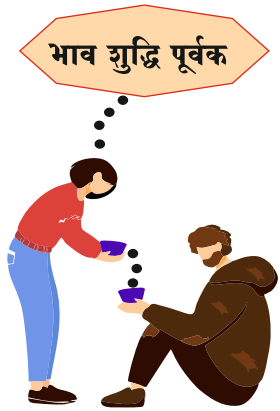

दान = द्रव्य विसर्जन + भाव विसर्जन

63

प्रतिज्ञा रूपी सड़क

प्रतिज्ञा मात्र दिखावा नहीं होती। प्रतिज्ञा का तात्पर्य हमने अपनी यात्रा के लिए मार्ग निर्मित कर लिया है। वह रोड बना ली है, जिस पर चलते हुए गंतव्य तक पहुँचा जा सकता है। अत: प्रतिज्ञा जिस रूप में ग्रहण की जाए, उस रूप में आचरण की नितांत आवश्यकता है। प्रतिज्ञा ग्रहण में विवेक की अनिवार्यता है ही। पहले बीड़ी, सिगरेट, शराब, हिंसा, झूठ आदि बीमारियों को छोड़ना या पहले सामायिक व्रत स्वीकार करना? जीवन यदि हिंसा, झूठ आदि पापाचरण व शराब आदि व्यसनों से सना है तो वहाँ सामायिक व्रत स्वीकार करना हास्यास्पद स्थिति पैदा करता है। इससे धर्म का उपहास भी संभव है। सामायिक व्रत तो टॉनिक का रूप है। वह कैसे कारगर हो सकता है? पहले बीमारी को दूर करें। उसके बाद ही टॉनिक शरीर को मजबूत बना सकता है। अत: पहले हिंसा आदि पापाचरण व व्यसनों से स्वयं को दूर करना चाहिए। उसके बाद उपासना, सामायिक आदि करना प्रशंसनीय हो सकता है।

6 जुलाई 1997 (हाटपिपलिया)

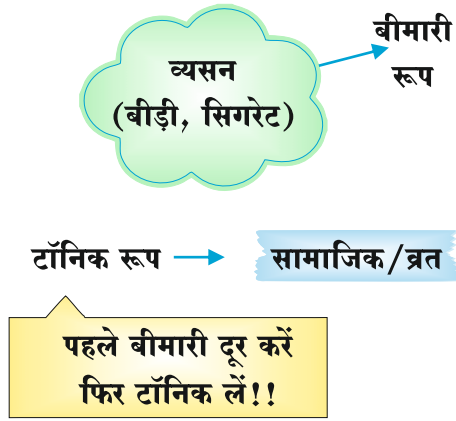
व्यसन
(बीड़ी, सिगरेट)
बीमारी
रूप
टॉनिक रूप
सामाजिक/व्रत
पहले बीमारी दूर करें
फिर टॉनिक लें!!

हेय-ज्ञेय-उपादेय रूप विवेक प्रज्ञा जब तक जागृत न हो जाए तब तक आत्म-साधना का द्वार उद्घाटित नहीं हो सकता। क्या ग्रहण करना है और क्या छोड़ना है, इसका विवेक ही नहीं होगा तो छोड़ना, ग्रहण करना सम्यक् नहीं बन सकता। ऐसी स्थिति में व्यक्ति, उसे ग्रहण कर सकता है जिसे छोड़ना है या जो त्याज्य है और जिसे ग्रहण करना है, उसे छोड़ सकता है। हीरे को नहीं जानने वाला काँच का टुकड़ा समझ उसे छोड़ सकता है, पर जौहरी उसे ग्रहण कर लेता है। ऐसे ही विवेक प्रज्ञा जागृत हो जाए तो हेय-ज्ञेय-उपादेय का विवेक कर आत्मा हेय को छोड़ने का उपक्रम कर उपादेय को ग्रहण करने में तत्पर हो सकती है।

अत: राग-द्वेष-क्लेश आदि आत्मा को संसार में रुलाने वाले हैं, ऐसा अनुभव करके विवेक प्रज्ञा से हेय का निर्णय कर छोड़ देना चाहिए। साथ ही व्रतादि साधना, उपासना मार्ग की उपादेयता जानकर उन पर आरूढ़ होना चाहिए।

7 जुलाई, 1997 (जावरा)

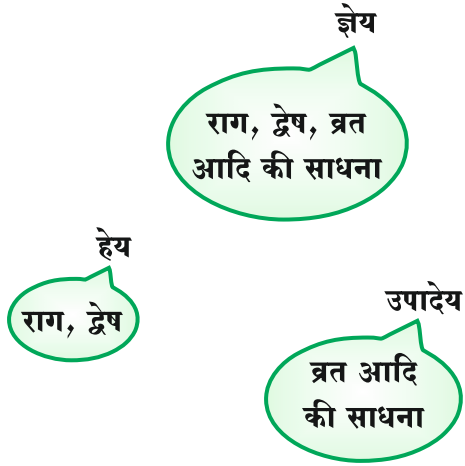
ज्ञेय
राग, द्वेष, व्रत आदि की साधना
हेय
राग, द्वेष
उपादेय
व्रत आदि की साधना

65

धृति की महत्ता

आध्यात्मिक साधना में धृति का अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है। धृति के बिना साधना की ऊँचाइयों तक जा पाना संभव ही नहीं है। धृति का अर्थ मन की स्वस्थता से है। मन अस्वस्थ होता है उद्विग्नता से। जब उद्विग्न अवस्था होती है तब अधैर्य की स्थिति बन जाती है। उस समय परीषहों को सहन करने में साधक असमर्थ हो जाता है। अत: साधना में प्रवेश के पूर्व धृति को दृढ़ बनाने का प्रयत्न होना चाहिए। जो व्यक्ति कष्टों में भी अचल-अटल हिमालय की भाँति खड़ा रहता है, वह साधना के क्षेत्र में भी ऊँचाई प्राप्त कर सकता है।

10 जुलाई, 1997 (जावरा)

धृति की महत्ता

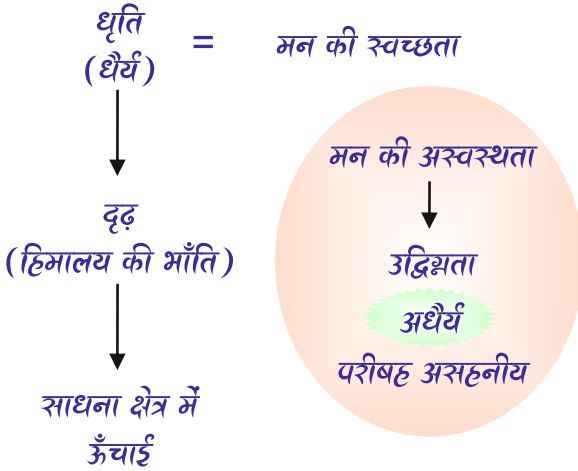
धृति
(धैर्य)
=
मन की स्वच्छता
दृढ़
(हिमालय की भाँति)
साधना क्षेत्र में
ऊँचाई
मन की अस्वस्थता
उद्विग्नता
अधैर्य
परीषह असहनीय

इस पुस्तक को पढ़कर मुझे लगा कि...